पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला : ४७

सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन

हरिभद्रसूरि का समय-निर्णय

मुनि श्री जिनविजय जी

H
294.892 J 564 H
J 564 H

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी

पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला : ४७

सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन

हरिभद्रसूरि का समय-निर्णय

मुनि श्री जिनविजय जी

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी

प्रकाशक :
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
आई० टी० आई० रोड,
वाराणसी
फोन : ६६७६२

मूल्य : २०.००

प्रकाशन : १९८८

Haribhadrasuri Kā Samaya Nirṇaya
By Muni Sri Jinavijayaji

Price Rs. 20.00

Second Revised Edition : 1988

मुद्रक :
डिवाइन प्रिन्टर्स
सोनारपुरा, वाराणसी

Library IIAS, Shimla
H 294.892 J 564 H
00094577

प्रकाशकीय

पुरातत्त्वाचार्य मुनि श्री जिनविजय जी जैन विद्या के उज्ज्वल नक्षत्रों में से एक थे। उन्होंने अपने जीवन-काल में मुख्य रूप से सिंघी जैन ग्रन्थमाला और राजस्थान पुरातत्त्व मन्दिर के माध्यम से अनेक दुर्लभ ग्रन्थों का पुनरुद्धार कर उन्हें प्रकाशित कराया। मुनिश्री के जन्म शताब्दी के पुण्य अवसर पर पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान ने उनके प्रति श्रद्धाञ्जलि-स्वरूप उन्हीं के द्वारा लिखित एक अत्यन्त महत्वपूर्ण और प्रामाणिक निबन्ध 'हरिभद्र का समय निर्णय' जो सन् १९१९ में पूना से प्रकाशित 'जैन साहित्य संशोधक' वर्ष १, अंक १ में छपा था, पुनर्प्रकाशित करने का निर्णय किया। प्रस्तुत पुस्तक उसी निर्णय के अन्तर्गत प्रकाशित किया जा रहा है। हरिभद्र-सूरि के काल-निर्णय के सम्बन्ध में यह लेख कितना महत्त्वपूर्ण है और वैदुष्य परिचायक है, यह बात जैन विद्या के अध्येताओं के लिये अपरिचित नहीं है। हरिभद्रसूरि जैन परम्परा की श्वेताम्बर शाखा के एक ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने अपनी लेखनी से अनेक ग्रंथों को प्रसूत किया। उनके ग्रंथ संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं में उप-लब्ध हैं, जो विविध विषयों पर लिखे गये हैं। ऐसे महान् आचार्य के समय निर्धारण के सम्बन्ध में मुनि जिनविजय जी ने उनके समय सम्बन्धी सभी मतों की समीक्षा करते हुए जो निर्णय प्रस्तुत किया है वह आज एक स्थिर मान्यता के रूप में स्थापित हो चुका है। इस लेख की मूल प्रति हमें एल० डी० इंस्टिट्यूट, अहमदाबाद से प्राप्त हुई थी अतः हम उनके प्रति भी आभारी हैं।

भूपेन्द्रनाथ जैन
मंत्री

हरिभद्रसूरि का समय-निर्णय

जैन धर्म के श्वेताम्बर संप्रदाय में हरिभद्र नाम के एक बहुत प्रसिद्ध और महान् विद्वान् आचार्य हुए हैं। उन्होंने संस्कृत और प्राकृत भाषा में धर्म-विचार और दार्शनिक विषय के अनेक उत्तमोत्तम और गम्भीरतत्त्व-प्रतिपादक ग्रंथ लिखे हैं। इन ग्रन्थों में सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, अद्वैत, चार्वाक, बौद्ध, जैन आदि सब दर्शनों और मतों की उन्होंने अनेक तरह से आलोचना-प्रत्यालोचना की है। इस प्रकार के भिन्न-भिन्न मतों के सिद्धान्तों की विवेचना करते समय अपने विरोधी मत वाले विचारों का भी गौरवपूर्वक नामोल्लेख करने वाले और समभाव पूर्वक मृदु और मधुर शब्दों द्वारा विचार-मीमांसा करने वाले ऐसे जो कोई विद्वान् भारतीय साहित्य के इतिहास में उल्लेख किए जाने योग्य हों तो उनमें हरिभद्र का नाम सबसे पहले लिखने योग्य है।

यों तो जैन इतिहास के पुरातन साधनों को देखने से उनमें हरिभद्र नाम के अनेक आचार्यों के होने का पता मिलता है[1]; परन्तु जिनको उद्देश्य करके इस निबन्ध को लिखना प्रारम्भ किया गया है, उन्हें सबसे पहले होने वाले अर्थात् प्रथम हरिभद्र ही समझना चाहिए। इस लेख का उद्देश्य इन्हीं प्रथम हरिभद्रसूरि के अस्तित्व-समय का विचार और निर्णय करना है।

हरिभद्रसूरि का प्रादुर्भाव जैन इतिहास में बड़े महत्व का स्थान रखता है। जैन धर्म के—जिसमें मुख्य कर श्वेताम्बर सम्प्रदाय के—उत्तरकालीन (आधुनिक) स्वरूप के संगठन-कार्य में उनके जीवन ने बहुत बड़ा भाग लिया है। उत्तरकालीन जैन साहित्य के इतिहास में वे प्रथम लेखक माने जाने योग्य हैं और जैन समाज के इतिहास में

१. द्रष्टव्य, प्रोफेसर पीटर्सन की बंबई प्रान्त के हस्तलिखित पुस्तकों के बारे में लिखी हुई चौथी रिपोर्ट, पृष्ठ (परिशिष्ट), १३७; तथा पं० हरगोविन्द दास लिखित, संस्कृत 'हरिभद्रसूरिचरित्रम्', पृष्ठ १।

नवीन संगठन के एक प्रधान व्यवस्थापक कहलाने योग्य हैं। इस प्रकार वे जैनधर्म के पूर्वकालीन और उत्तरकालीन इतिहास के मध्यवर्ती सीमास्तम्भ के समान हैं। उनके समय का यथार्थ निर्णय हो जाने पर सम्पूर्ण जैन इतिहास के सूत्र-पुंज की एक बहुत बड़ी गांठ सुलझ सकेगी। केवल जैन साहित्य और समाज के इतिहास की ही दृष्टि से हरिभद्र के जीवन-समय के निर्णय की उपयोगिता है, यह बात नहीं है; अपितु भारतवर्ष के कई जैनेतर धर्मधुरन्धर आचार्यों तथा गीर्वाण-गिरा के कई प्रतिष्ठित लेखकों के समय-विचार की दृष्टि से भी उसकी बहुत उपयोगिता है।

जैसा कि प्रारम्भ में ही सूचित किया गया है, हरिभद्र एक बहुत बड़े दार्शनिक विद्वान् थे और इस विषय के उन्होंने अनेक उत्तमोत्तम ग्रंथ लिखे हैं। इन ग्रन्थों में उन्होंने भारत के वैदिक, बौद्ध और चार्वाक आदि सभी मतों के पुरातन और प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ताओं के तात्त्विक विचारों की जगह-जगह आलोचना-प्रत्यालोचना की है। इस कारण हरिभद्र के समय-निर्णय से उनके पूर्ववर्ती उन अन्य दार्शनिकों के समय के बारे में भी बहुत सी ज्ञातव्य और निर्णायक बातें मिल सकती हैं और आजतक जो कितनी एक परस्पर विरुद्ध ऐसी आनुमानिक बातें पुरातत्त्वज्ञों के मन को शंकाशील और चिन्तापूर्ण बनाए रही हैं, उनके लिए एक और नई दिशा में प्रयत्न कर संदिग्ध सिद्धान्तों के पुनर्विचार का नया मार्ग मिल सकता है।

यूरोपियन स्कॉलरों में से शायद सबसे पहले प्रो० पीटर्सन ने अपनी चौथी रिपोर्ट[1] में 'उपमितिभवप्रपञ्चकथा' नामक धार्मिक नीति के स्वरूप को अनुपम रीतिसे प्रदर्शित करने वाले संस्कृत साहित्य के एक सर्वोत्तम ग्रन्थ के रचयिता जैन साधु सिद्धर्षि का परिचय लिखते हुए साथ में इन हरिभद्रसूरि के समय का भी उल्लेख किया था। इसके बाद डॉ० क्लाट[2] (Klatt), प्रो० ल्युमन (Leumann)[3]

१. द्रष्टव्य, रिपोर्ट, पृष्ठ ५; तथा परिशिष्ट (Index of Authors) पृष्ठ ७९।

2. Klatt, Onomasticon.

3. Zeitschrift der Deutschen Morgenl and, Gesellschaft, XLIII, A. p. 348.

जेकोबी (Jacobi), बेलिनी[1] (Ballini) और मिरोनौ (Mironov)[2] आदि अन्य विद्वानों ने भी प्रसंगवशात् अपने-अपने लेखों में इस विषय का यथासमय थोड़ा बहुत विचार किया है। परन्तु इन सब में जैनधर्म के विशिष्ट अभ्यासी डॉ० जेकोबी का परिश्रम विशेष उल्लेख के योग्य है। उन्होंने सबसे पहले हरिभद्र के समय का निर्देश करने वाले पुरातन कथन के सत्य होने में सन्देह प्रकट किया था। सन् १९०५ में भावनगर निवासी जैन गृहस्थ मि० एम्० जी० कापडिया के कुछ प्रश्न करने पर जेकोबी ने इस विषय में विशेष ऊहापोह करना शुरू किया[3] और अन्त में अपने शोध के परिणाम में जो कुछ निष्कर्ष मालूम हुआ, उसको उन्होंने 'बिब्लीओथिका इंडिका' में प्रकाशित उपमितिभवप्रपञ्चकथा की प्रस्तावना में लिपिबद्ध कर प्रकट किया। इसी बीच में डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण महाशय की 'मध्यकालीन भारतीय न्यायशास्त्र का इतिहास' (History of the Mediaval school of Indian Logic) नामक पुस्तक प्रकट हुई। इस पुस्तक में अन्यान्य प्रसिद्ध जैन नैयायिकों के समान हरिभद्र के समय के विषय में भी विद्याभूषण जी ने अपना विचार प्रदर्शित किया है। परन्तु १२वीं शताब्दी में होने वाले इसी नाम के एक दूसरे आचार्य के साथ इनकी कुछ कृतियों का सम्बन्ध लगा कर इस विषय में कुछ और उलटी गड़बड़ फैलाने की चेष्टा के सिवा अधिक वे कुछ नहीं कर सके। प्रस्तुत हरिभद्र के उन प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रंथों का, जिनका निर्देश आगे किया जायगा, नामोल्लेख तक भी विद्याभूषणजी अपनी इस पुस्तक में नहीं कर सके। इससे यह ज्ञात

1. Ballini, Contributo allo studio della upo Katha etc. (R Acad dei Lincei, Reudiconti XV ser. 5, a sec. 5, 6, 12, p. 5.

२. 'जैन शासन' 'दीवालीनो खास अंक'

३. जेकोबी और कापडिया के बीच में जो पत्र-व्यवहार इस विषय में हुआ था, वह बंबई से प्रकाशित 'जैन श्वेतांबर कान्फरेन्स हेरल्ड' नामक पत्र के ई. स. १९१५ के जुलाई-अक्टूबर मास के संयुक्त अंकों में प्रकट हुआ है।

होता है कि उनको हरिभद्र के विशाल साहित्य का कुछ भी विवरण मालूम नहीं हो सका। तदनन्तर रसियन विद्वान् डॉ० मिरोनो ने भी अपने 'दिङ्नाग का न्यायप्रवेश और उसपर हरिभद्र की टीका' इस शीर्षक लेख में, (जो बनारस के जैनशासन नामक एक सामयिक पत्र के विशेषांक में छपा है) प्रस्तुत प्रश्न के सम्बन्ध में कुछ मीमांसा की है।

यद्यपि जेकोबी ने, जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस विषय में कुछ विशेष ऊहापोह कर महत्त्व के मुद्दों का विचार किया है, तथापि हरिभद्र के सभी ग्रन्थों का सूक्ष्मदृष्टि से अवलोकन कर उनमें मिलते हुए आंतर प्रमाणों के खोजने की उन्होंने बिल्कुल चेष्टा नहीं की और इसलिए वे अपने मंतव्य के समर्थनार्थ निश्चयात्मक ऐसे कुछ भी प्रमाण नहीं दे सके। इस प्रकार यह प्रश्न अभी तक बिना हल हुए ही जैसा का वैसा संशयात्मक दशा में विद्यमान है। हरिभद्र के ग्रन्थों का ध्यानपूर्वक निरीक्षण कर उनमें से मिलते हुए आंतर प्रमाणों के आधार पर तथा उपलब्ध बाह्य प्रमाणों का ठीक-ठीक विचार कर, इस प्रश्न का निरकरण करना ही इस लेख का उद्देश्य है।

हरिभद्रसूरि के समय का निर्णय, मुख्य कर उनके लिखे हुये ग्रंथों में से मिलते हुए साधक-बाधक ऐसे आंतर प्रमाणों पर आधारित है। इसलिये प्रथम यहां पर, उनके कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थों की नामावली प्रस्तुत है। हरिभद्रसूरि ने अपने जीवन में जैन साहित्य को जितना पुष्ट किया है उतना अन्य किसी विद्वान् ने नहीं किया। उनके बनाये हुए ग्रन्थों की संख्या बहुत ही बड़ी है। पूर्व परम्परा के अनुसार, वे १४०० या १४४० अथवा १४४४ ग्रन्थों के प्रणेता कहे जाते हैं[1]। यह संख्या आजकल के लोगों को बहुत ही अधिक और अतिशयोक्ति पूर्ण लगती है: परन्तु साथ में यह बात भी अवश्य ध्यान में रखने लायक है कि इस संख्या के सूचक उल्लेख ८ सौ ९ सौ जितने वर्षों से भी अधिक पुराने मिलते हैं। इस संख्या का अर्थ चाहे जैसा हो; परन्तु इतनी बात तो पूर्ण सत्य

१. इस विषय के उल्लेखों के लिये द्रष्टव्य पं० श्रीहरगोविन्ददास लिखित संस्कृत 'हरिभद्रसूरिचरित्रम्' पृ० १६-२०।

है कि वर्तमान में जितने ग्रन्थ जैन साहित्य में हरिभद्र के नाम से प्रचलित और प्रसिद्ध हैं, उतने अन्य किसी के नाम से नहीं[1]। यही एक बात उनके अपरिमित ग्रन्थकर्तृत्व की पुष्टि में स्पष्ट प्रमाण-स्वरूप है। वर्तमान में उपलब्ध होने वाले उनके ग्रन्थों में से विशेष प्रसिद्ध, प्रतिष्ठित और प्रौढ़ ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—

१. अनेकान्तवादप्रवेश।
२. अनेकान्तजयपताका स्वोपज्ञवृत्ति सहित।
३. अनुयोगद्वारसूत्रवृत्ति।
४. अष्टकप्रकरण।
५. आवश्यकसूत्रबृहद्वृत्ति।
६. उपदेशपदप्रकरण।
७. दशवैकालिकसूत्रवृत्ति।
८. दिङ्नागकृत न्यायप्रवेशसूत्रवृत्ति।
९. धर्मबिन्दुप्रकरण।
१०. धर्मसंग्रहणी प्रकरण।
११. नन्दीसूत्र लघुवृत्ति।
१२. पंचाशकप्रकरण।
१३. पञ्चवस्तुप्रकरण टीका।
१४. पञ्चसूत्रप्रकरण टीका।
१५. प्रज्ञापनासूत्रप्रदेशव्याख्या।
१६. योगदृष्टिसमुच्चय।
१७. योगबिन्दु।
१८. ललितविस्तरा नामक चैत्यवन्दनसूत्रवृत्ति।
१९. लोकतत्त्वनिर्णय।
२०. विंशतिकाप्रकरण।
२१. षड्दर्शनसमुच्चय।
२२. शास्त्रवार्तासमुच्चय, स्वकृतव्याख्यासहित।

---

१. हरिभद्रसूरि के उपलब्ध सभी ग्रन्थों के नामसंग्रहके लिये द्रष्टव्य, जैन ग्रन्थावली, पृ. ९८-१०३; तथा उन्हीं द्वारा लिखित हरिभद्रसूरि-चरित्र, पृ. २०-३०।

२३. श्रावकप्रज्ञप्ति ।
२४. समराइच्चकहा ।
२५. सम्बोधप्रकरण ।
२६. सम्बोधसप्ततिकाप्रकरण ।

हरिभद्रसूरि के बनाये हुए ग्रन्थों की संख्या इतनी विशाल होने पर भी उसमें कहीं पर उनके जीवन के सम्बन्ध में कुछ भी विशेष बात लिखी हुई नहीं मिलती। भारत के अन्यान्य प्रसिद्ध विद्वानों की तरह उन्होंने भी अपने ग्रन्थों में, अपने जीवन-सम्बन्धी किसी प्रकार का उल्लेख नहीं किया। लिखने में मात्र अपने संप्रदाय 'गच्छ' गुरु और एक विदुषी धर्मजननी आर्या का कई जगह नाम लिखा है। यह भी एक सौभाग्य की बात है क्योंकि दूसरे ऐसे अनेक विद्वानों के बारे में तो इतना भी उल्लेख नहीं मिलता। हरिभद्र के उल्लेखानुसार, उनका संप्रदाय श्वेताम्बर, गच्छ का नाम विद्याधर, गच्छपति आचार्य का नाम जिनभट, दीक्षाप्रदायक गुरु का नाम जिनदत्त और धर्मजननी साध्वी का नाम याकिनी महत्तरा था। इन सब बातों का उल्लेख, उन्होंने एक ही जगह, आवश्यकसूत्र की टीका के अन्त में इस प्रकार किया है :—

"समाप्ता चेयं शिष्यहिता नामावश्यकटीका। कृतिः सिताम्बराचार्यजिनभटनिगदानुसारिणो विद्याधरकुलतिलकाचार्यजिनदत्तशिष्यस्य धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनोरल्पमतेराचार्यहरिभद्रस्य[1]।"

१. पीटर्सन की तीसरी रिपोर्ट, पृ. २०२; तथा चौथी रिपोर्ट, परिशिष्ट, पृ. ८७। वेबर की बर्लिन की रिपोर्ट, पुस्तक २, पृ. ७८६ :

हरिभद्रसूरि के गुरु-नाम के सम्बन्ध में डा० जेकोबी और अन्य कई विद्वानों को खास भ्रम रहा है। वे हरिभद्र के गुरु का नाम जिनभद्र या जिनभट समझते हैं। डॉ० जेकोबी ने, जर्मन ओरियन्टल सोसाइटी के ४० वें जर्नल (पुस्तक) में पृ० ९४ पर, यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि, आचाराङ्गसूत्र की टीका बनाने वाले आचार्य शीलाङ्क और हरिभद्र दोनों गुरुबन्धु थे—एक ही गुरु के शिष्य थे। क्योंकि दोनों के गुरु का नाम जिनभद्र या जिनभट है और इसी लिये वे दोनों समकालीन भी थे। परन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि इस आवश्यकसूत्र की टीका के

आवश्यकसूत्र की टीका के उपर्युद्धृत अन्तिम उल्लेख से अधिक कोई बात हरिभद्र ने अपने किसी ग्रन्थ में नहीं लिखी। इसलिये उनके जीवन के बारे में इससे अधिक कोई बात, उन्हीं के शब्दों में मिल सके, ऐसी आशा रखना तो सर्वथा निरर्थक है। परन्तु परवर्त्ती ग्रन्थों में उनके विषय में कई प्रकार की भिन्न-भिन्न बातें लिखी हुई अवश्य मिलती हैं। इस लेख का उद्देश्य हरिभद्र के चरित वर्णन करने का नहीं है, परन्तु पाठकों के सूचनार्थ, मुख्य कर जिन-जिन ग्रन्थों में हरिभद्र के जीवन सम्बन्धी छोटे-बड़े उल्लेख मिलते हैं उनके नाम यहां पर निर्दिष्ट हैं।

इन ग्रन्थों में सबसे विशेष उल्लेख योग्य प्रभाचन्द्र रचित प्रभावक-चरित है। यह ग्रन्थ विक्रम सम्वत् १३३४ में बना है। इस ग्रन्थ के ९वें प्रबन्ध में, उत्तम प्रकार की काव्य शैली में, विस्तार पूर्वक हरिभद्र का जीवन चरित वर्णित है (इस चरित में कही गई बातें कहां तक

अन्तिम वाक्य से स्पष्ट ज्ञात होता है कि हरिभद्र के दीक्षाप्रदायक गुरु तो विद्याधरगच्छीय आचार्य जिनदत्त थे। जिनभटसूरि या तो हरिभद्र के विद्या-गुरु होंगे या अन्य किसी कारण उन्हें वे अपने विशेष पूज्य समझते होंगे इसी लिये, इस उपर्युक्त वाक्य में उन्होंने प्रथम जिनभट का नामोल्लेख किया है और अपने को उनका आज्ञाधारक (-निगदानुसारिणो) बतलाया है। इस प्रकार जिनभट और जिनदत्त दोनों हरिभद्र के समान पूज्य होने के कारण कहीं तो उन्होंने जिदत्तसूरि का (जैसा कि समराइच्चकहा के अंत में) उल्लेख किया है और कहीं जिनभटसूरि का। (द्रष्टव्य, प्रज्ञापनासूत्रवृत्ति का अन्तिम पद्य; किल्हॉर्न की रिपोर्ट पृ० ३१)। प्रभावकचरित आदि ग्रन्थों में यद्यपि हरिभद्र के गुरु का नाम मात्र जिनभट ही लिखा हुआ मिलता है, परन्तु उसके कथन की अपेक्षा साक्षात् ग्रन्थकार का यह उपर्युक्त कथन विशेष प्रामाणिक होना चाहिए। डॉ० जेकोबी ने जो उनके गुरु का नाम जिनभद्र बतलाया है वह इस उल्लेख से भ्रान्तिमूलक सिद्ध हो जाता है। जिनभट और जिनभद्र शब्द के बोलने और लिखने में प्रायः समानता ही होने के कारण, इस भ्रान्ति का होना बहुत स्वाभाविक है। रही बात, शीलाङ्क और हरिभद्र के समकालीन होने की, सो उसका निर्णय तो इस निबन्ध का अगला भाग पढ़ लेने पर अपने आप हो जायेगा।]

सत्य हैं उसके बारे में हम अपना कुछ भी अभिप्राय यहां पर नहीं दे सकते)। इस ग्रन्थ के बाद राजशेखरसूरि के (वि० सं० १४०५ में) बनाये हुए प्रबन्धकोष नामक ऐतिहासिक और किंवदन्ती स्वरूप प्रबन्धों के संग्रहात्मक ग्रन्थ में भी इनके विषय में वर्णन मिलता है। हरिभद्र-सूरि के जीवन के सम्बन्ध में कुछ विस्तार के साथ बातें इन्हीं दो पुस्तकों में लिखी हुई मिलती हैं। संक्षेप में तो कुछ उल्लेख इन ग्रन्थों के पूर्व बने हुए ग्रन्थों में भी कहीं-कहीं मिल जाते हैं। ऐसे ग्रन्थों में, काल-क्रम की दृष्टि से प्रथम ग्रन्थ मुनिचन्द्रसूरि रचित उपदेशपद (जो हरिभद्र का ही बनाया हुआ एक प्रकरण ग्रन्थ है) की टीका[1] है। इस टीका के अन्त में बहुत ही संक्षेप में—परन्तु प्रभावकचरित-कार ने अपने प्रबन्ध में जितना चरित वर्णित किया है उसका बहुत कुछ सार बतलाने वाला हरिभद्र के जीवन का विवरण है। दूसरा ग्रन्थ भद्रेश्वरसूरि द्वारा रचित प्राकृत भाषामय 'कहावली' है[2]। इसमें चौबीस तीर्थंकरों के चरित्रों के साथ अन्त में भद्रबाहु, वज्रस्वामी, सिद्धसेन आदि आचार्यों की कथायें भी लिखी हुई हैं, जिनमें अन्त में हरिभद्र की जीवन कथा भी सम्मिलित है। इसी तरह थोड़ा विवरण गणधर-सार्द्धशतकबृहत्टीका में भी उल्लिखित है[3]।

इन सब ग्रन्थों में लिखे हुए वर्णनों से निष्कर्ष निकलता है कि हरिभद्र पूर्वावस्था में एक बड़े विद्वान् और वैदिक ब्राह्मण थे। चित्रकूट (मेवाड़ की इतिहास प्रसिद्ध वीरभूमि चित्तौड़गढ़) उनका निवास-स्थान था। याकिनी महत्तरा नामक एक विदुषी जैन आर्या (श्रमणी=साध्वी) के समागम से उनको जैनधर्म पर श्रद्धा हो गई थी और उसी साध्वी के उपदेशानुसार उन्होंने जैनशास्त्र प्रतिपादित संन्यासधर्म-श्रमणव्रत को स्वीकार कर लिया था। इस

---

१. यह टीका वि. सं. ११७४ में समाप्त हुई थी।

२. यह ग्रन्थ कब बना इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। रचनाशैली और कर्ता के नाम से अनुमान होता है कि १२ वीं शताब्दी में इसका प्रणयन हुआ होगा। इस शताब्दी में भद्रेश्वर नाम के दो-तीन विद्वानों के होने के उल्लेख मिलते हैं।

३. इस वृत्ति की रचना-समाप्ति वि. सं. १२९५ में हुई थी।

संन्यासावस्था में जैनसमाज को निरंतर सद्बोध देने के अतिरिक्त उन्होंने अपना समग्र जीवन सतत साहित्यसेवा में व्यतीत किया था। धार्मिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक विषय के अनेकानेक उत्तमोत्तम मौलिक ग्रन्थ और ग्रन्थविवरण लिखकर उन्होंने जैन साहित्य का और उसके द्वारा सम्पूर्ण भारतीय साहित्य का भी भारी उपकार किया है। जैन धर्म के पवित्र ग्रन्थ जो आगम कहे जाते हैं, वे प्राकृत भाषा में होने के कारण विद्वानों को और साथ में अल्प बुद्धि वाले मनुष्यों को भी अल्प उपकारी हो रहे थे इस लिये उन पर सरल संस्कृत टीकायें लिख कर उन्हें सबके लिये सुबोध बना देने के पुण्य कार्य का प्रारम्भ इन्हीं महात्मा ने किया था। इनके पहले आगम ग्रन्थों पर शायद संस्कृत टीकायें नहीं लिखी गई थीं। उस समय तक प्राकृत भाषामय चूर्णियां ही लिखी जाती थीं। वर्तमान में तो इनके पूर्व की किसी सूत्र की कोई संस्कृत टीका उपलब्ध नहीं है।

इनके बनाये हुए आध्यात्मिक और तात्त्विक ग्रन्थों के स्वाध्याय से मालूम होता है कि ये प्रकृति से बड़े सरल, आकृति से बड़े सौम्य और वृत्ति से बड़े उदार थे। इनका स्वभाव सर्वथा गुणानुरागी था। जैनधर्म के ऊपर अनन्य श्रद्धा रखने और इस धर्म के एक महान् समर्थक होने पर भी इनका हृदय निष्पक्षपातपूर्ण था। सत्य का आदर करने में ये सदैव तत्पर रहते थे। धर्म और तत्त्व के विचारों का ऊहापोह करते समय ये अपनी मध्यस्थता और गुणानुरागिता की किञ्चित् भी उपेक्षा नहीं करते थे। जिस किसी भी धर्म या संप्रदाय का जो कोई भी विचार इनकी बुद्धि में सत्य प्रतीत होता था उसे ये तुरन्त स्वीकार कर लेते थे। केवल धर्म-भेद या संप्रदाय-भेद के कारण ये किसी पर कटाक्ष नहीं करते थे—जैसा कि भारत के बहुत से प्रसिद्ध आचार्यों और दार्शनिकों ने किया है। बुद्धदेव, कपिल, व्यास, पतञ्जलि आदि विभिन्न धर्म-प्रवर्तकों और मतपोषकों का उल्लेख करते समय इन्होंने उनके लिये भगवान्, महामुनि, महर्षि इत्यादि गौरव सूचक विशेषणों का प्रयोग किया है—जो हमें इस प्रकार के दूसरे ग्रन्थकारों की लेखन-शैली में बहुत कम दृष्टिगोचर होती है। कहने का तात्पर्य यही है कि ये एक बड़े उदारचेता साधु पुरुष और सत्य के उपासक थे। भारत वर्ष के समुचित धर्माचार्यों के पुण्य-

श्लोक इतिहास में ये एक उच्च श्रेणी में विराजमान होने योग्य संविज्ञ हृदयी जैनाचार्य थे ।

हरिभद्र के जीवन के विषय में उपर्युक्त थोड़ी सी प्रासंगिक बातें लिखने के पश्चात् इस निबन्ध के मुख्य विषय की विवेचना प्रस्तुत है ।

हरिभद्रसूरि के जीवन-वृत्तान्त के विषय में स्वल्प उल्लेख करने वाले जिन ग्रन्थों के नाम ऊपर उद्धृत हैं, उनमें इस बात का कोई उल्लेख नहीं है कि ये सूरि किस समय में हुए हैं। इसलिये प्रस्तुत विचार विवेचन में उन ग्रन्थों से हमें किसी प्रकार की साक्षात् सहायता के मिलने की तो बिल्कुल आशा नहीं है। यदि, उन ग्रन्थों में जीवन वृत्तान्त के साथ हरिभद्र के समय का सूचक भी कोई उल्लेख किया हुआ होता तो उनके दिये हुए वर्णनों में कुछ और विशेष महत्ता और विश्वसनीयता आ जाती। परन्तु वास्तव में, उन ग्रन्थकारों का उद्देश्य कोई सन्-सम्वत्वार अन्वेषणात्मक इतिहास लिखने का नहीं था। उनका उद्देश्य तो मात्र अपने धर्म के समर्थक और प्रभावक आचार्यों तथा विद्वानों ने, धर्म की प्रभावना के लिये, किस प्रकार के लोगों को चमत्कार बतलाये अथवा किस प्रकार परवादियों के पाण्डित्य का पराभव किया, इत्यादि प्रकार की जो जनमनरंजन बातें पूर्व परम्परा से कण्ठस्थ चली आती थीं, उनको पुस्तकारूढ़ कर शाश्वत बनाने का और इस प्रकार से सर्वसाधारण में धर्म की महत्ता प्रदर्शित करने का था। हां, इस उद्देश्य की दृष्टि से प्रबन्धनायक के विषय में किसी विशेष घटना सूचक संवतादि का कहीं से जो उल्लेख प्राप्त हो जाता था, तो उसे वह अपने निबन्ध में कभी-कभी ग्रन्थित भी कर देता था। परन्तु जिस आतुरता के साथ आज कल हम सन्-संवतादि की प्राप्ति के लिये उत्सुक रहते हैं और उसके अन्वेषण के लिये दीर्घ परिश्रम करते रहते हैं, वैसी प्रकृति भारतवर्ष के पुराने प्रबन्ध लेखकों की नहीं दिखाई देती।

यद्यपि उक्त कथनानुसार हरिभद्र के जीवन-वृत्तान्त का सूचन करने वाले ग्रंथों में उनके समय का कोई निर्देश किया हुआ नहीं मिलता; तथापि जैन गुरुपरम्परा-सम्बन्धी जो कितने एक कालगणनात्मक प्रबन्धादि उपलब्ध हैं, उनमें से किसी-किसी में इनके समय का

उल्लेख किया हुआ अवश्य विद्यमान है। इस प्रकार के कालगणनात्मक प्रबन्धों में, प्रथम और प्रधानतया जो प्रबन्ध उल्लेख योग्य हैं, वह अञ्चलगच्छीय आचार्य मेरुतुङ्ग का बनाया हुआ विचारश्रेणी नामक[1] ग्रंथ है। मेरुतुङ्गाचार्य ने अपना प्रबन्धचिन्तामणि[2] नामक प्रसिद्ध ऐतिसिक ग्रन्थ वि० सं० १३६० में समाप्त किया था। प्रस्तुत विचारश्रेणी में वि० सं० १३७१ में समरासाह ने[3] शत्रुञ्जय का जो उद्धार किया था, उसका उल्लेख है। इसलिए विक्रम की १४वीं शताब्दी के पिछले पाद में इस प्रबन्ध की रचना हुई, ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं है। इस प्रबन्ध में एक पुरानी प्राकृत गाथा उद्धृत की गयी है, जिसमें लिखा है कि विक्रम संवत् ५८५ में हरिभद्रसूरि का स्वर्गवास हुआ था। गाथा इस प्रकार है—

पंचसए पणसीए[4] विक्कम कालाउ झत्ति अत्थमिओ।
हरिभद्रसूरि-सूरो भवियाणं दिसउ कल्लाणं॥

---

१. यह प्रबन्ध पुरातत्त्वज्ञों को सुपरिचित है। महावीर निर्वाण और विक्रम संवत् के विषय की आलोचना में इतिहासज्ञों को मुख्य कर यही प्रबन्ध विषयभूत रहा है, (द्रष्टव्य जेकोबी की कल्पसूत्र की प्रस्तावना और जार्ल शार्पेंटियर का 'महावीर समयनिर्णय' नामक निबन्ध; इंडियन एंटिक्वेरी, पृ. ४३)। सबसे पहले प्रसिद्ध शोधक डॉ० भाऊ दाजी ने, सन् १८७२ में, बम्बई की रायल एसियाटिक सोसाइटी की शाखा के सभ्यों के सम्मुख इस विषय पर एक निबन्ध पढ़ा था। (यह निबन्ध इसी सोसायटी के वृत्तपत्र (जर्नल) के ९ वें भाग में, पृ. १४७-१५७ पर प्रकट हुआ है) डॉ. बुल्हर ने इसको अंग्रेजी नाम 'Catena of Enquiries' दिया है (इं. एं. पु. २; पृ० ३६२)।

२. यह ग्रन्थ गुजराती भाषांतर सहित अहमदाबाद के रामचन्द्र दीनानाथ शास्त्री ने सन् १८८८ में प्रकाशित किया है। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी बंगाल की रायल एसियाटिक सोसाइटी ने प्रकट किया है।

३. इस उद्धार का विशेष उल्लेख लेखक के शत्रुञ्जयतीर्थोद्धारप्रबन्ध नामक पुस्तक के उपोद्घात पृ. ३१-३३ में है।

४ प्रो. पीटर्सन ने अपनी तीसरी रिपोर्ट के पृ. २७२ पर प्रद्युम्नसूरिविरचित 'विचारसारप्रकरण' के और पृ. २८४ पर समयसुन्दरगणि के

अर्थात्—विक्रम संवत् ५८५ में अस्त (स्वर्गस्थ) होने वाले हरिभद्रसूरिरूप सूर्य भव्यजनों को कल्याण प्रदान करें।'

यहां पर यह बातखास ध्यान में रख लेने की है कि यह गाथा मेरुतुङ्ग ने 'उक्तं च—'कह कर अपने प्रबन्ध में उद्धृत की है --नई नहीं बनाई है। मेरुतुङ्गाचार्य के निश्चित रूप से पहले के बने हुए किसी ग्रंथ में यह गाथा अभी तक देखने में नहीं आयी। इसलिए यह हम नहीं कह सकते कि यह गाथा कितनी प्राचीन है। मेरुतुंग से तो निश्चित ही १००-२०० वर्ष पुरानी अवश्य होनी चाहिए। विचारश्रेणी में 'जं रयणिं कालगओ' इत्यादि वाक्य से प्रारम्भ होने वाली और महावीर निर्वाण और विक्रम संवत् के बीच के राजवंशों का समयनिरूपण करने वाली जो तीन प्राकृत गाथायें हैं, प्रायः वैसी ही गाथाएँ तो 'तित्थोग्गालियपइण्णा' नामक प्राकृत ग्रंथ में भी मिलती है; परन्तु हरिभद्र के मृत्यु-समय का विधान करने वाली प्रस्तुत गाथा वहां पर नहीं दिखाई देती। इसलिए यह भी नहीं कह सकते कि मेरुतुंग ने कौन से ग्रन्थ में से उद्धृत की है। परन्तु इतनी बात तो सत्य है कि यह गाथा १४वीं शताब्दी से तो पूर्व की अवश्य बनी है।

'गाथासहस्री' नामक ग्रन्थ के, जो अवतरण दिये हैं उनमें यह प्राकृत गाथा भी सम्मिलित है। वहाँ पर 'पणसीए' के स्थान पर 'पणतीए' ऐसा पाठ मुद्रित है। इस पाठभेद के कारण कई विद्वान् ५८५ के बदले ५३५ के वर्ष में हरिभद्र की मृत्यु हुई मानते हैं; परन्तु वास्तव में वह पाठ अशुद्ध है। क्योंकि प्राकृत भाषा के नियमानुसार ३५ के अंक के लिये 'पणतीसे' शब्द होता है, 'पणतीए' नहीं। यद्यपि, लेखक—पुस्तक की नकल उतारनेवाले—के प्रमाद से 'पणतीसे' की जगह 'पणतीए' पाठ का लिखा जाना बहुत सहज है, और इसलिये 'पणतीए' के बदले 'पणतीसे' के शुद्ध पाठ की कल्पना कर ८५ के स्थान पर ३५ की संख्या गिन लेने में, भाषा-विज्ञान की दृष्टि से कोई अनुचितता नहीं कही जा सकती; परन्तु प्रकृत विषय के कालसूचक अन्यान्य उल्लेखों के संवादानुसार यहाँ पर 'पणसीए' पाठ का होना ही युक्तिसंगत और प्रमाणविहित है। बहुत सी हस्तलिखित प्रतियों में भी यही पाठ उपलब्ध होता है। प्रो. वेबर ने बर्लिन के राजकीय पुस्तकालय में संरक्षित संस्कृत-प्राकृत पुस्तकों की रिपोर्ट के भाग २, पृ. ९२३ पर भी 'पणसीए' पाठ को ही शुद्ध लिखा है और 'पणतीए' को अशुद्ध।

इसी गाथा को प्रद्युम्नसूरि ने[1] अपने 'विचारसारप्रकरण' में और समयसुन्दरगणि ने[2] स्व-संगृहीत 'गाथासहस्री' नामक प्रबन्ध में भी उद्धृत की है। पुनः इसी गाथा के आशय को लेकर कुलमंडनसूरि ने[3] 'विचारामृतसंग्रह' में और धर्मसागर[4] उपाध्याय ने तपागच्छ-गुर्वावली में लिखा है कि महावीर निर्वाण के पश्चात् १०५५ वें

१. ये धर्मघोषसूरिके प्रशिष्य एवं देवप्रभ के शिष्य थे। इनका निश्चित समय ज्ञात नहीं है। सम्भव है कि कदाचित् ये मेरुतुंग के पूर्ववर्ती हों और 'विचारश्रेणी' की बहुत सी प्राकृत गाथायें इन्हीं के 'विचारसार-प्रकरण' से ली गई हों–यद्यपि इसमें भी वे सब गाथायें संगृहीत मात्र ही हैं, नवीन रचित यहीं। यदि विशेष खोज करने पर, इस संग्रहकार के समय का पता लगा और ये मेरुतुंग से पूर्ववर्ती निश्चित हुए, तो फिर हरिभद्र की मृत्युसंवत्सूचक प्राकृत गाथा के प्रथम अवतरण का मान, इन्हीं के इस 'विचारसारप्रकरण' को देना होगा। इस प्रकरण में एक दूसरी बात यह भी है कि प्राकृत गाथा के साथ प्रकरणकार ने 'अह वा' (सं. अथ वा) लिख कर एक दूसरी भी प्राकृत गाथा लिखी–उद्धृत की–है, जिसमें वीर-निर्वाण से १०५५ वर्ष बाद हरिभद्र हुए, ऐसा कथन है। इस गाथा के उद्धृत करने का मतलब लेखक को इतना ही मालूम देता है कि हरिभद्रसूरि का स्वर्गवास-समय प्रधान गाथा में जो वि. सं. ५८५ बतलाया है वह इस दूसरी गाथा के कथन-से भी समर्थित होता है। क्योंकि ५८५ का विक्रम-संवत्सर महावीर संवत् १०५५ के बराबर (४७०+५८५=१०५५) ही होता है। प्रद्युम्नसूरि संगृहीत दूसरी गाथा इस प्रकार है—

पण पन्न-दस-सएहिं हरिसूरि आसि तत्थ पुव्वकई।
तेरसवरिससएहिं अईएहिं वि बप्पभट्टिपहू ॥

पीटर्सन. रिपोर्ट ३, पृ० २७२।

२. समयसुन्दरगणि ने गाथासहस्री सं० १६८६ में बनाई है। द्रष्टव्य—पि. रि. ३, पृ. २९०।

—विचारसारप्रकरण और गाथासहस्री में प्रस्तुत गाथाके चतुर्थ पाद में कुछ पाठ-भेद है, परन्तु अर्थ-तात्पर्य एक ही होने से उसके उल्लेख की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

३. ये आचार्य विक्रम की १५ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुए हैं।

४. धर्मसागरजी १७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विद्यमान थे।

(वीर नि० ४७० अनन्तर विक्रम संवत् की शुरुआत, तदनन्तर ५८५; ४७०+५८५=१०५५) वर्ष में हरिभद्रसूरि का स्वर्गवास हुआ था। इन पिछले दोनों ग्रन्थकारों का कथन क्रमशः इस प्रकार है—

(१) 'श्रीवीरनिर्वाणात् सहस्रवर्षे पूर्वश्रुतव्यवच्छिन्नम्। श्रीहरिभद्रसूरयस्तदनु पञ्चपञ्चाशता वर्षैर्दिवं प्राप्ताः।'

—विचारामृतसंग्रह।

(२) श्रीवीरात् पञ्चपञ्चाशदधिकसहस्रवर्षे विक्रमात् पञ्चाशत्यधिकपञ्चशतवर्षे याकिनीसूनुः श्रीहरिभद्रसूरिः स्वर्गभाक्।

—तपागच्छगुर्वावली।

मुनि सुन्दरसूरि ने जो तपागच्छ की पद्यबद्ध गुर्वावली (संवत् १४६६) बनाई है उसमें हरिभद्रसूरि को मानदेवसूरि (द्वितीय) का मित्र बतलाया है। इस मानदेव का समय पट्टावलियों की गणना और मान्यतानुसार विक्रम की ६ठीं शताब्दी समझा जाता है। अतः यह उल्लेख भी हरिभद्रसूरि के गाथोक्त समय का संवादी गिना जाता है।

मुनि सुन्दरसूरि का उल्लेख इस प्रकार है—

अभूद् गुरुः श्रीहरिभद्रमित्रं
श्रीमानदेवः पुनरेव सूरिः।
यो मान्यतो विस्मृतसूरिमन्त्रं
लेभेऽम्बिकाऽऽस्यात्तपसोज्जयन्ते[1] ॥

—गुर्वावली (यशोविजय ग्रं० काशी) पृ० ४

---

१. धर्मसागरगणि ने अपनी पट्टावली में इसी पद्य का समानार्थक एक दूसरा पद्य उद्धृत किया है। यथा—

विद्यासमुद्रहरिभद्रमुनीन्द्रमित्रं
सूरिर्बभूव पुनरेव हि मानदेवः।
मान्द्यात् प्रयातमपि योऽनघसूरिमन्त्रं
लेभेऽम्बिकामुखगिरा तपसोज्जयन्ते।

यही पद्य पुनः पूर्णिमागच्छ की पट्टावली में भी मिलता है।—द्रष्टव्य पं. हरगोविन्ददास का हरिभद्रचरित पृ. ३८।

इस प्रकार इन सब ग्रन्थकारों के मत से हरिभद्रसूरि का सत्ता-समय विक्रम की छठीं शताब्दी है और उनका स्वर्गवास सं० ५८५ (ई० सं० ५२९) में हुआ था।

परन्तु इसी प्रकार के बाह्य-प्रमाणों में कुछ ऐसे भी प्रमाण उपलब्ध होते हैं जिनके कारण इस गाथोक्त समय की सत्यता के बारे में विद्वानों को बहुत समय से सन्देह उत्पन्न हो रहा है। इन प्रमाणों में जो मुख्य उल्लेख योग्य है, वह बहुत महत्त्व का और उपर्युक्त समयसाधक प्रमाणों से भी बहुत प्राचीन है। यह प्रमाण महात्मा सिद्धर्षि के महान् ग्रन्थ उपमितिभवप्रपञ्चकथा में उल्लिखित है। यह कथा संवत् ९६२ के ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी, गुरुवार के दिन, जब चन्द्रमा पुनर्वसु नक्षत्र में स्थित था, तब समाप्त हुई थी। ऐसा स्पष्ट उल्लेख इस कथा की प्रशस्ति में सिद्धर्षि ने स्वयं किया है। यथा--

संवत्सरशतनवके द्विषष्टिसहितेऽतिलङ्घिते चास्याः।
ज्येष्ठे सितपञ्चम्यां पुनर्वसौ गुरुदिने समाप्तिरभूत्॥

यद्यपि ग्रन्थकर्ता ने यहां पर मात्र केवल 'संवत्' शब्द का ही प्रयोग किया है जिससे स्पष्टतया यह नहीं ज्ञात हो सकता कि वीर, विक्रम, शक, गुप्त आदि संवतों में से प्रस्तुत में कौन सा संवत् कथाकार को विवक्षित है, तथापि, संवत् के साथ मास, तिथि, वार और नक्षत्र का भी स्पष्ट उल्लेख किया हुआ होने से, ज्योतिर्गणित के नियमानुसार गिनती करने पर, प्रकृत में विक्रम संवत् का ही विधान किया गया है, यह बात स्पष्ट ज्ञात हो जाती है। सिद्धर्षि के लिखे हुए इस संवत्, मास और तिथि आदि की तुलना ई० स० के साथ की जाय तो, गणित करने से, ९०६ ई० के मई महीने की पहली तारीख के बराबर इसकी एकता होती है। इस तारीख को भी वार गुरु ही आता है और चन्द्रमा भी सूर्योदय से लेकर मध्याह्न काल के बाद तक पुनर्वसु नक्षत्र में ही रहता है।[1]

---

१. किसी-किसी की कल्पना इस संवत् को वीर-निर्वाण-संवत् मानने की है। अगर इस कल्पना के अनुसार गणित करके देखा जाय तो वीर सं. ९६२ के ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी के दिन ई. स. ४३६ के मई मास की ७वीं तारीख आती है। वार उस दिन भी गुरु ही मिलता है, परन्तु चन्द्रमा उस

इस कथा की प्रशस्ति में सिद्धर्षि ने प्रारम्भ में ९ श्लोकों द्वारा अपनी मूल गुरुपरम्परा का उल्लेख कर, फिर हरिभद्रसूरि की विशिष्ट प्रशंसा की है और उन्हें अपना धर्म-बोधकर गुरु बतलाया है। प्रशस्ति में हरिभद्र की प्रशंसा वाले निम्नलिखित तीन[1] पद्य मिलते हैं :—

(१५) आचार्यहरिभद्रो मे धर्मबोधकरो गुरुः।
प्रस्तावे भावतो हन्त स एवाद्ये निवेदितः॥

दिन प्रातःकाल में २ घंटे तक पुष्य नक्षत्र में रह कर फिर अश्लेषा नक्षत्र में चला जाता है; इसलिये नक्षत्र उस दिन ग्रन्थ में लिखे अनुसार नहीं मिलता। इसके सिवा इस कल्पना में एक बड़ा और प्रत्यक्ष विरोध भी है। उक्त प्राकृत गाथा में जो हरिभद्र का मृत्युसमय बतलाया गया है उससे यह समय लगभग १०० वर्ष जितना उल्टा पीछे चला जाता है—अर्थात् सिद्धर्षि हरिभद्र के भी शतवर्ष पूर्ववर्ती हो जाते हैं। सिद्धर्षि का, जैसा कि आगे चल कर स्पष्ट किया जायगा, हरिभद्र के पहले होना सर्वथा असिद्ध है। इसलिये सिद्धर्षि का लिखा हुआ वह संवत् विक्रम संवत् ही है।

प्रो. पीटर्सन ने अपनी चौथी रिपोर्ट के ५ वें पृष्ठ पर सिद्धर्षि के इस संवत् को परिनिर्वाण संवत् मान कर और उसके मुकाबले में विक्रम संवत् ४९२ के बदले ५९२ लिख कर गाथोक्त हरिभद्र के समय के साथ मेल मिलाना चाहा है। परन्तु इस गिनतीमें तो प्रत्यक्ष रूप से ही १०० वर्ष की भद्दी भूल की गई है। क्योंकि ९६२ में से ४७० वर्ष निकाल देने से शेष ४९२ रहते हैं, ५९२ नहीं। इसलिये पीटर्सन की कल्पना में कुछ भी तथ्य नहीं है। जेकोबी ने भी इस कल्पना को त्याज्य बतलाया है। द्रष्टव्य-उपमितिभवप्रपंच की प्रस्तावना—पृष्ठ ८ की पाद टीका।

१. डॉ. जेकोबी इन पद्यों के पहले के और ३ (नं. १२-१३-१४ वाले) श्लोकों को भी हरिभद्र की ही प्रशंसा में लिखे हुए समझते हैं और उनका भाषान्तर भी उन्होंने अपनी प्रस्तावना (पृ. ५) में दिया है। परन्तु यह उनका भ्रम है। उन तीन पद्यों में हरिभद्र की प्रशंसा नहीं है परन्तु सिद्धर्षि की प्रशंसा है। इनके पूर्व के दूसरे दो (नं० १०-११) श्लोकों में भी सिद्धर्षि का ही जिक्र है। वास्तव में हमारे विचार से नं० १० से १३ तक के ४ पद्य स्वयं सिद्धर्षि के बनाए हुए नहीं हैं, परन्तु उनके शिष्य या अन्य किसी दूसरे विद्वान् के बनाये हुये हैं। अतएव वे यहाँ पर प्रक्षिप्त हैं। सिद्धर्षि, स्वयं

(१६) विषं विनिर्धूय कुवासनामयं
व्यचीचरद् यः कृपया मदाशये।
अचिन्त्यवीर्येण सुवासनासुधां
नमोऽस्तु तस्मै हरिभद्रसूरये ॥

(१७) अनागतं परिज्ञाय चैत्यवन्दनसंश्रया।
मदर्थैव कृता येन वृत्तिर्ललितविस्तरा ॥[1]

इन पद्यों का भावार्थ इस प्रकार है—

(१५) आचार्य हरिभद्र मेरे धर्मबोधकर—धर्म का बोध (उप, देश) करने वाले—गुरु हैं। इस कथा के प्रथम प्रस्ताव में मैंने इन्हीं धर्मबोधकर गुरु का निवेदन किया है।

(१६) जिसने कृपा करके अपनी अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से मेरे हृदय में से कुवासना-दुर्विचार रूप विष को निकाल कर सुवासना-सद्विचार स्वरूप सुधा (अमृत) का सिंचन किया है, उस आचार्य हरिभद्र को नमस्कार हो।

(१७) उन्होंने (हरिभद्रसूरि ने) अनागत याने भविष्य में होनेवाले मुझको जानकर मानों मेरे लिये ही चैत्यवन्दनसूत्र का आश्रय लेकर ललितविस्तरा नामक वृत्ति बनाई है।

इस अवतरण से ज्ञात होता है कि सिद्धर्षि हरिभद्र को एक प्रकार से अपना गुरु मानते हैं। वे उन्हीं से अपने को धर्मप्राप्ति हुई कहते हैं और ललितविस्तरावृत्ति नामक ग्रन्थ, जो हरिभद्र के ग्रन्थों में से एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है उसे, अपने ही लिये बनाया गया बतलाते हैं। इस प्रकार इस प्रशस्तिगत कथन के प्रथम दर्शन से तो हरिभद्र और सिद्धर्षि के बीच में गुरु-शिष्यभाव का होना स्थापित होता है और जब ऐसा गुरु-शिष्य भाव का सम्बन्ध उनमें रहा तो फिर वे प्रत्यक्ष

अपने मुख से अपनी प्रशंसा करने वाले बहिर्मुख आत्मा नहीं थे। वे बड़े नम्र, लघुताप्रिय और अध्यात्मस्वरूप में लीन रहने वाले सन्त पुरुष थे। वे अपने लिये 'सिद्धान्तनिधि' 'महाभाग' और 'गणधरस्तुत्य' जैसे मानभरे हुए विशेषणों का प्रयोग कभी नहीं कर सकते।

१. उपमितिभवप्रपञ्चकथा, (बिब्लिओथिका इण्डिका.) पृ. १२४०।

ही दोनों समकालीन सिद्ध हुए और वैसा होने पर हरिभद्र का उक्त गाथा विहित सत्ता-समय असत्य सिद्ध होगा।

इस प्रकार हरिभद्रसूरि के समय-विचार में सिद्धर्षि का सम्बन्ध एक प्रधान स्थान रखता है। इसलिये प्रथम यहाँ पर इस बात का ऊहापोह करना आवश्यक है कि सिद्धर्षि के इस कथन के बारे में उनके चरित्र लेखक जैन ग्रन्थकारों का क्या अभिप्राय है।

सिद्धर्षि के जीवन-वृत्तान्त की तरफ दृष्टिपात करते हैं तो उनके निज के ग्रन्थ में तो इस उपर्युक्त प्रशस्ति के कथन के सिवा और कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता। इसलिये उनके निज के ही शब्दों में तो अपने को यह बात नहीं मालूम हो सकती कि हरिभद्र को वे अपने धर्मबोधकर गुरु किस कारण से कहते हैं और ललितविस्तरा-वृत्ति को अपने ही लिये बनाई गई क्यों बतलाते हैं ?

उत्तरकालीन जैन लेखकों के लेखों-ग्रन्थों में सिद्धर्षि के जीवन-वृत्तान्त के विषय में जो कथा प्रबन्धादि उपलब्ध होते हैं उनमें कालक्रम की दृष्टि से सबसे प्राचीन तथा वर्णन की दृष्टि से भी प्रधान ऐसा प्रभावकचरितान्तर्गत 'सिद्धर्षि-प्रबन्ध' है। इस प्रबन्ध में सिद्धर्षि का जो जीवन वर्णित है उसमें इस बात का किञ्चित् भी जिक्र नहीं किया गया है कि हरिभद्र, सिद्धर्षि के एक गुरु थे और उनसे उनको धर्म-बोध मिला था। हरिभद्र और सिद्धर्षि के बीच में एक प्रकार से गुरु शिष्य का सम्बन्ध था, इस बात का सूचन प्रभावकचरितकार ने न हरिभद्र के ही प्रबन्ध में किया है और न सिद्धर्षि के ही प्रबन्ध में। केवल इतना ही नहीं, परन्तु इन दोनों के चरितप्रबन्ध पास-पास में भी वे नहीं रखते। उन्होंने हरिभद्र का चरित्र ९ वें प्रबन्ध में गुंथा है और सिद्धर्षि का १४वें प्रबन्ध में। इसलिये प्रभावकचरितकार के मत से तो हरिभद्र और सिद्धर्षि के बीच में न किसी प्रकार का साक्षात् गुरु-शिष्य जैसा सम्बन्ध था और न वे दोनों समकालीन थे।

परन्तु सिद्धर्षि ने अपनी कथा की प्रशस्ति में जो उक्त प्रकार से हरिभद्र का उल्लेख किया है, उसे प्रभावकचरितकर्ता जानते ही नहीं हैं यह बात नहीं है। उन्होंने सिद्धर्षि का वह कथन केवल देखा ही नहीं है किन्तु उसे अपने प्रबन्ध में यथावत् उद्धृत कर लिया है। परन्तु

उस कथन का सम्बन्ध वे और ही तरह से लगाते हैं। उनका कहना है कि सिद्धर्षि ने जैन शास्त्रों का पूर्ण अभ्यास करके, फिर न्याय शास्त्र का विशिष्ट अभ्यास करने के लिये किसी प्रान्तस्थ बौद्ध विद्यापीठ में जाकर रहने का विचार किया। जाने के पहले उन्होंने जब अपने गुरु गर्गस्वामी के पास अनुमति मांगी तो गुरुजी ने अपनी असम्मति प्रकट की और कहा कि वहां पर जाने से तेरा धर्म-विचार भ्रष्ट हो जायगा। सिद्धर्षि ने गुरुजी के इस कथन पर दुर्लक्ष्य कर चल ही दिया और अपने इच्छित स्थान पर जाकर बौद्ध प्रमाण शास्त्र का अध्ययन करना शुरू किया। अध्ययन करते-करते उनका विश्वास जैनधर्म के ऊपर से उठता गया और बौद्ध धर्म पर श्रद्धा बढ़ती गई। अध्ययन की समाप्ति हो जाने पर, उन्होंने बौद्धधर्म की दीक्षा लेने का विचार किया, परन्तु, पहले ही से बचनबद्ध हो आने के कारण, जैन धर्म का त्याग करने के पहले वे एक बार अपने पूर्व गुरु के पास मिलने के लिये आये। शान्तमूर्ति गर्गमुनि ने सिद्धर्षि की स्वधर्म पर से चलित चित्तता को देख कर अपने मुख से किसी प्रकार का उन्हें उपदेश देना उचित नहीं समझा। उन्होंने उठ कर पहले सिद्धर्षि का स्वागत किया और फिर उन्हें एक आसन पर बिठा कर हरिभद्रसूरि की बनाई हुई ललितविस्तरावृत्ति, जिसमें बौद्ध वगैरह सभी दर्शनों के सिद्धान्तों की बहुत ही संक्षेप में परन्तु बड़ी मार्मिकता के साथ मीमांसा कर जैनतीर्थङ्कर की परमाप्तता स्थापित की गई है, उनको पढ़ने के लिये दी। पुस्तक देकर गर्गमुनि जिन चैत्य को वन्दन करने के लिये चले गये और सिद्धर्षि को कह गये कि, जब तक मैं चैत्यवन्दन करके वापस आऊं तब तक तुम इस ग्रन्थ को वाँचते रहो। सिद्धर्षि गुरुजी के चले जाने पर ललितविस्तरा को ध्यान पूर्वक पढ़ने लगे। ज्यों-ज्यों वे हरिभद्र के निष्पक्ष, युक्तिपूर्ण, प्रौढ़ और प्राञ्जल विचार पढ़ते जाते त्यों-त्यों उनके विचारों में बड़ी तीव्रता के साथ क्रांति होती जाती थी। सारा ग्रन्थ पढ़ लेने पर उनका विश्वास जो बौद्ध संसर्ग के कारण जैनधर्म पर से उठ गया था वह फिर पूर्ववत् दृढ़ हो गया और बौद्ध धर्म पर से उनकी रुचि सर्वथा हट गई। इतने में गर्गमुनि जी चैत्यवन्दन करके उपाश्रय में वापस आ पहुँचे। सिद्धर्षि गुरुजी को आते देख एक दम आसन पर से उठ खड़े हुए और उनके पैरों में

अपना मस्तक रख कर, स्वधर्म पर से जो इस प्रकार अपना चित्तभ्रंश हुआ उसके लिए पश्चात्ताप करने लगे। गुरुजी ने मिष्ट वचनों से उन्हें शान्त कर उनके मन को संतुष्ट किया। अन्त में वे फिर जैनधर्म के महान् प्रभावक हुए। इस प्रकार हरिभद्र के बनाये हुए ग्रन्थ अवलोकन से सिद्धर्षि की मिथ्याभ्रान्ति नष्ट हुई और सद्धर्म की प्राप्ति हुई इसलिये उन्होने हरिभद्रसूरि को अपना धर्मबोधकर गुरु माना और ललितविस्तरा को मानों अपने ही लिये बनाई गई समझा। इसके सिवा प्रभावकचरित के कर्ता इन दोनों में परस्पर और किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं मानते।

परन्तु दूसरे कितने एक ग्रन्थकार प्रभावकचरित के इस कथन के साथ पूर्ण मतैक्य नहीं रखते। उनके कथनानुसार तो सिद्धर्षि और हरिभद्र दोनों समकालीन थे और सिद्धर्षि को बौद्ध संसर्ग के कारण स्वधर्म भ्रष्ट होते देख कर उनको प्रतिबोध करने के लिये ही हरिभद्रसूरि ने ललितविस्तरावृत्ति बनाई थी। इन ग्रन्थकारों में मुख्य कर राजशेखरसूरि का (सं० १४०५ में) प्रबन्धकोष अथवा चतुर्विंशति-प्रबन्ध है। इस ग्रन्थ में हरिभद्रसूरि का जो चरित-प्रबन्ध है उसमें साथ में सिद्धर्षि का भी वर्णन किया हुआ है। इस प्रबन्ध में तो सिद्धर्षि को साक्षात् हरिभद्र का ही दीक्षित शिष्य बतलाया गया है। गर्गमुनि वगैरह का नामनिर्देश तक नहीं है। प्रकृत बात के विषय का बाकी सब हाल प्रायः ऊपर (प्रभावकचरित) के जैसा ही है। मात्र इतनी विशेषता है कि, बौद्ध गुरु के पास से जब सिद्धर्षि अपनी प्रतिज्ञानुसार हरिभद्रसूरि को मिलने के लिये आये तब बौद्ध गुरु ने भी उन्हें पुनर्मिलन के लिये प्रतिज्ञाबद्ध कर लिया था। हरिभद्रसूरि ने उनको सद्बोध दिया जिससे उनका मन फिर जैन धर्म पर श्रद्धावान् हो गया। परन्तु प्रतिज्ञानिर्वाह के कारण वे पुनः एक बार बौद्ध गुरु के पास गये। वहाँ उसने फिर उनको बहकाया और वे फिर हरिभद्र से मिलने आये। हरिभद्र ने पुनः समझाया और पुनः बौद्धाचार्य के पास गये। इस प्रकार २१ बार उन्होंने गमनागमन किया। आखिर में हरिभद्र ने उन पर दया कर प्रबलतर्कपूर्ण ललितविस्तरा वृत्ति बनाई, जिसे पढ़कर उनका मन सर्वथा निर्भ्रान्त हुआ और वे जैनधर्म पर स्थिरचित्त हुए। इसके बाद उन्होंने १६ हजार श्लोक प्रमाण उपमितिभव-

प्रपञ्चकथा बनाई और उसके अन्त में उक्त प्रकार से हरिभद्रसूरि की प्रशंसा की।[1]

इसी वृत्तान्त का यथावत् सूचक संक्षिप्त उल्लेख मुनिसुन्दरसूरि ने उपदेशरत्नाकर में और रत्नशेखरसूरि ने श्राद्धप्रतिक्रमणार्थदीपिका टीका (सं० १४९६) में किया है। दोनों उल्लेख क्रमशः इस प्रकार हैं :—

(१) 'ये पुनः कुगुर्वादिसङ्गत्या सम्यग्दर्शनचारित्राणि वमन्ति ते शुभधर्मवासं प्रतीत्य वाम्याः। बौद्धसङ्गत्यैकविंशतिकृत्वोऽर्हद्धर्मत्यागिश्रीहरिभद्रसूरिशिष्यपश्चात्तदुपज्ञललितविस्तराप्रतिबुद्धश्रीसिद्धवत्।'

—उपदेशरत्नाकर, पृ० १८

(२) 'मिथ्यादृष्टिसंस्तवे हरिभद्रसूरिशिष्यसिद्धसाधुर्ज्ञातम्, स सौगतमतरहस्यममंग्रहणार्थं गतः। ततस्तैर्भावितो गुरुदत्तवचनत्वान्मुत्कलापनायागतो गुरुभिर्बोधितो बौद्धानामपि दत्तवचनत्वान्मुत्कलापनार्थं गतः। एवमेकविंशतिवारान् गतागतमकारीति। तत्प्रतिबोधनार्थं गुरुकृतललितविस्तराख्यशक्रस्तववृत्त्या दृढं प्रतिबुद्धः श्रीगुरुपार्श्वे तस्थौ।'

—श्राद्धप्रतिक्रमणार्थ दीपिका।

इस प्रकार इन ग्रन्थकारों के मत से तो सिद्धर्षि साक्षात् हरिभद्रसूरि के ही हस्त-दीक्षित शिष्य थे। इनके मत को कहां तक प्रामाणिक समझना चाहिए, यह एक विचारणीय प्रश्न है। क्योंकि ये तो सिद्धर्षि के दीक्षागुरु, जो गर्गमुनि हैं और जिनकी पूर्व-गुरुपरम्परा तक का उल्लेख सिद्धर्षि ने स्वयं अपनी कथा की प्रशस्ति में किया है, उन का सूचन तक बिल्कुल नहीं करते और खुद हरिभद्रके ही पास इनका दीक्षा लेना बतलाते हैं। सो यह कथन स्पष्टतया प्रमाण विरुद्ध दिखाई दे रहा है। सिवा सिद्धर्षि जैसे अपूर्व प्रतिभाशाली पुरुष को इस तरह २१ बार इधर-उधर धक्के खिला कर एक बिल्कुल भोंदू जैसा चित्रित किया है इस लिए इनके कथन की कीमत बहुत कम आंकी जा सकती है।

---

१. द्रष्टव्य—मणिलाल नभुभाई द्विवेदी द्वारा अनूदित बड़ौदा राज्य की ओर से प्रकाशित 'चतुर्विंशतिप्रबन्ध' का गुजराती भाषान्तर, पृ. ४७-४८।

सिद्धर्षि के जीवन सम्बन्धी प्रभावकचरित और प्रबन्धकोष के लेखकों के उक्त मतों से कुछ भिन्न एक तीसरा मत भी है जो पडिवाल-गच्छ की एक प्राकृत पट्टावली में मिलता है। यह पट्टावली कब की बनी हुई है और कैसी विश्वसनीय है; सो तो उसे पूरी देखे बिना नहीं कह सकते। मुनि धनविजयजी ने 'चतुर्थस्तुतिनिर्णयशंकोद्धार' नामक पुस्तक में, इस पट्टावली में से प्रस्तुत विषय का जो पाठ उद्धृत किया है उसी से हम यहां पर यह तीसरा मत उल्लिखित कर रहे हैं। इस पट्टावली के लेखक के मत से सिद्धर्षि के मूल दीक्षागुरु तो गर्गाचार्य या गर्गमुनि ही थे—हरिभद्र और सिद्धर्षि के गुरुशिष्य भाव के सम्बन्ध में पट्टावलीकार का कथन इस प्रकार है:—पूर्वोक्त कथानुसार, बौद्ध-संसर्ग के कारण जब सिद्धर्षि के विचारों में बारंबार परिवर्तन होने लगा तब उनके गुरु गर्गर्षि ने हरिभद्रसूरि को, जो बौद्धमत के बड़े भारी ज्ञाता थे, विज्ञप्ति की कि कोई ऐसा उपाय कीजिए कि जिससे सिद्धर्षि का मन स्वधर्म में स्थिर हो जाय। फिर सिद्धर्षि जब अपने गुरु के पास पुनर्मिलन के लिए आये तब हरिभद्र ने उनको बहुत कुछ समझाया परन्तु वे सन्तुष्ट न हुए और वापस बौद्धमठ में चले गये। इससे फिर हरिभद्र ने तर्कपूर्ण ऐसी ललितविस्तरावृत्ति बनाई। इसके बाद हरिभद्र की मृत्यु हो गयी। मरते समय वे गर्गाचार्य को वह वृत्ति सौंपते गये और कहते गये कि अब जो सिद्धर्षि आवें तो उन्हें यह वृत्ति पढ़ने को देना। गर्गाचार्य बाद में ऐसा ही किया और अन्त में उस वृत्ति के अवलोकन से सिद्धर्षि का मन स्थिर हुआ। इसी लिए उन्होंने हरिभद्र को अपना गुरु माना और उस वृत्ति को 'मदर्थं निर्मिता' बतलाया।[1]

---

१. इस पट्टावली में सिद्धर्षि के गुरु गर्गाचार्य और उनके गुरु दुर्ग स्वामी के स्वर्गगमन की साल भी लिखी हुई है। यथा 'अह दुग्गसामी विक्कमओ ९०२ वरिसे देवलोयं गतो। तस्सीसो सिरिसेणो आयरिय-पएठिओ। गग्गायरियावि विक्कमओ ९१२ वरिसे कालं गया तप्पए सिद्धायरिओ। एवं दो आयरिया विहरई।' अर्थात्-दुर्गस्वामी विक्रम-संवत् ९०२ में स्वर्ग गये। उनके शिष्य श्रीषेण आचार्य पद पर बैठे। गर्गा-चार्य की भी विक्रम संवत् ९१२ में मृत्यु हुई। उनके पट्ट पर सिद्धर्षि बैठे। इस प्रकार श्रीषेण और सिद्धर्षि दोनों आचार्य एक साथ रहते थे। यदि

इस प्रकार हरिभद्र और सिद्धर्षि के सम्बन्ध के विषय में जैन ग्रन्थकारों के तीन भिन्न-भिन्न मत उपलब्ध होते हैं। तीनों मतों में यह एक बात तो समान रूप में उपलब्ध होती है कि सिद्धर्षि का चित्त बौद्ध संसर्ग के कारण स्वधर्म पर से चलायमान हो गया था और वह फिर हरिभद्रसूरि की बनाई हुई ललितविस्तरावृत्ति के अवलोकन से पुनः दृढ़ हुआ था। इस कथन से सिद्धर्षि ने ललितविस्तरावृत्ति के लिए जो 'मदर्थं निर्मिता' ऐसा उल्लेख किया है, उसकी संगति तो एक प्रकार से लग जाती है; परन्तु मुख्य बात जो हरिभद्र और सिद्धर्षि के बीच में गुरु-शिष्यभाव के विषय की है, उसके बारे में इन ग्रन्थकारों में; उक्त प्रकार से, परस्पर बहुत कुछ मतभेद है और इस लिए सिद्धर्षि के 'आचार्यहरिभद्रो मे धर्मबोधकरो गुरुः।' इस उल्लेख की संगति, उनके जीवन कथा-लेखकों के लेखों के आधार से ठीक-ठीक नहीं लगाई जा सकती।

सिद्धर्षि के चरित्र लेखकों के मतों का सार इस प्रकार है :—

(१) प्रभावकचरित्र के मत से सिद्धर्षि गर्गर्षि या गर्गमुनि के शिष्य थे। हरिभद्र का उन्हें कभी साक्षात् समागम नहीं हुआ था। केवल उनकी बनाई हुई ललितविस्तरावृत्ति के पढ़ने से उन्हें स्वधर्म पर पुनः श्रद्धा हुई थी, इसलिए कृतज्ञता ज्ञापन करने के लिए उन्होंने हरिभद्रसूरि को अपना धर्मबोधकर गुरु लिखा है।

(२) प्रबन्धकोष के मत से सिद्धर्षि स्वयं हरिभद्र के ही हस्त दीक्षित शिष्य थे। गर्गमुनि वगैरह का कोई सम्बन्ध नहीं था। हरिभद्र के शिष्य होने के कारण अर्थात् वे उनके समकालीन ही थे।

यह कथन सच है तो इसके ऊपर सिद्धर्षि के दीर्घायु होने का अनुमान किया जा सकता है। क्योंकि उनके गुरु गर्गस्वामी की जब ९१२ में मृत्यु हुई थी, तो कम से कम १०-२० वर्ष पहले तो सिद्धर्षि ने उनके पास दीक्षा अवश्य ही ली होगी। इधर ९६२ में उन्होंने अपनी कथा समाप्त की है। दीक्षा लेने के पूर्व में भी कम से कम १५-१२ वर्ष की उम्र होनी चाहिए। इस हिसाब से उनकी आयु न्यून से न्यून भी ८० वर्ष की तो अवश्य होनी चाहिए।

(३) पडिवालगच्छीय पट्टावलि के मत से सिद्धर्षि के दीक्षागुरु तो गर्गस्वामी ही थे। परन्तु हरिभद्रसूरि का समागम भी उनको हुआ था। इस लिए वे दोनों कुछ काल तक समकालीन अवश्य थे।

सिद्धर्षि के विषय में एक और उल्लेख हमारे देखने में आया है जिसे हम प्रमाण की दृष्टि से नहीं किन्तु विचित्रता की दृष्टि से यहां पर सूचित किये देते हैं। जैन श्वे० कान्फरेन्स हेरल्ड नामक मासिक पत्र के सन् १९१५ के जुलाई-अक्टूबर मास के संयुक्त अंक में, एक गुजराती भाषा में लिखी हुई तपागच्छ की अपूर्ण पट्टावली छपी है। इस पट्टावली में हरिभद्रसूरि का भी वर्णन दिया गया है। इस वर्णन के अंत में लिखा है कि, सिद्धर्षि हरिभद्र के भाणेज (भागिनेय) थे और उन्होंने उपमितिभवप्रपञ्चकथा, श्रीचंद्रकेवलीचरित्र तथा विजयचंद्रकेवलीचरित्र नामक ग्रन्थ बनाये थे (द्रष्टव्य उक्त पत्र, पृ० ३४१)।

प्रभावकचरित में सिद्धर्षि के सम्बन्ध में जो-जो बातें लिखी हैं उनमें दो बातें और भी ऐसी हैं जो उनके समय का विचार करते समय उल्लिखित कर दी जाने योग्य हैं। पहली बात यह है कि सिद्धर्षि को सुप्रसिद्ध संस्कृत महाकाव्य 'शिशुपालवध' के कर्त्ता कवीश्वर माघ का चचेरा भाई (पितृव्यपुत्र) लिखा है[1] और दूसरी बात यह है कि, कुवलयमालाकथा के कर्ता दक्षिण्यचिह्न सूरि को सिद्धर्षि का गुरुभ्राता बतलाया है।[2] परन्तु महाकवि माघ का समय ईस्वी की ७वीं शताब्दी का मध्य भाग निश्चित किया गया है[3] और कुवलयमालाकथा के कर्ता दाक्षिण्यचिह्न सूरि का समय जैसा कि यह ई० स० की ८वीं शताब्दी का अन्तिम भाग निर्णीत है। इस कारण से, जब तक सिद्धर्षि का लिखा हुआ उक्त ९६२ का वर्ष, एक तो प्रक्षिप्त या झूठा

---

१. द्रष्टव्य, प्रभावकचरित-सिद्धर्षिप्रबन्ध, श्लोक ३-२०।

२. वही ८९।

३. द्रष्टव्य, डॉ. जेकोबी की उप० की प्रस्तावना, पृ. १३; तथा, श्रीयुत केशवलाल हर्षधराय ध्रुव का गुजराती अमरुशतक, प्रस्तावना, पृ. ९ (४थी आवृत्ति)।

नहीं सिद्ध होता और दूसरा वह विक्रम संवत् के सिवा और किसी संवत् का साबित नहीं किया जाता, तब तक प्रभावकचरित की ये दोनों बातें कपोलकल्पित ही माननी पड़ेगी।

डॉ० मिरोनौ (Dr. N. Mironov) ने Bulletin de 'l' Acad' emie Imperiale des Sciences de St.—Petersburg, 19" में सिद्धर्षि पर एक लेख प्रकाशित किया है जिसमें श्रीचन्द्रकेवलीचरित नामक ग्रन्थ में निम्नलिखित दो श्लोक उद्धृत किया है—[1]

वस्वङ्केषु [५९८] मिते वर्षे श्रीसिद्धर्षिरिदं महत्।
प्राक् प्राकृतचरित्राद्धि चरित्रं संस्कृतं व्यधात्॥
तस्मान्नानार्थसन्दोहादुद्धृतेयं कथात्र च।
न्यूनाधिकान्यथायुक्तं मिथ्यादुष्कृतमस्तु मे॥

इन श्लोकों का सार मात्र इतना ही है कि—सिद्धर्षिने संवत् ५९८ में, प्राकृत भाषा में बने हुए पूर्व के श्रीचन्द्रकेवलीचरित पर संस्कृत में नया चरित्र बनाया था। सिद्धर्षि अपनी उपमि० कथा के बनने का संवत्सर ९६२ लिखते हैं और इस चरित्र में ५९८ वर्ष का उल्लेख किया हुआ है। इस प्रकार इन दोनों वर्षों के बीच में ३६४ वर्ष का अन्तर रहता है। इस लिये डॉ० मिरोनौका कथन है कि यदि इस ५९८ वें वर्ष को गुप्त संवत् मान लिया जाय तो इस विरोध का सर्वथा परिहार हो जाता है। क्यों कि ५९८ गुप्त संवत् में ७६ वर्ष शामिल कर देने पर विक्रम संवत् ९७४ हो जाता है और यह समय सिद्धर्षि के उपमि० कथा वाले संवत्सर ९६२ के समीप में आ पहुंचता है।

इस प्रकार सिद्धर्षि के समयादि के बारे में जितने उल्लेख हमारे देखने में आये हैं उन सब का सार हमने यहां पर दे दिया है। हरिभद्रसूरि के समय-विचार के साथ सिद्धर्षि के समय-विचार का घनिष्ठ सम्बन्ध होने से हमें यहां पर इस विषय का इतना विस्तार करने की आवश्यकता पड़ी है।

---

१. डॉ. जेकोबी ने भी अपनी उप० की प्रस्तावना के अन्त में संक्षिप्त टिप्पण के साथ इन श्लोकों को प्रकट किया है।

सिद्धर्षि विषयक इन उपर्युक्त उल्लेखों से पाठक यह जान सकेंगे कि हरिभद्रसूरि और सिद्धर्षि के गुरुशिष्य भाव के सम्बन्ध में और इसी कारण से इन दोनों के सत्ता-समय के विषय में जैन ग्रन्थकारों के परस्पर कितने विरुद्ध विचार उपलब्ध होते हैं। परन्तु आश्चर्य यह है कि इन सब विचारों में भी कोई ऐसा निश्चित और विश्वसनीय विचार हमें नहीं मालूम देता, जिसके द्वारा इस प्रश्न का निराकरण किया जा सके कि हरिभद्र और सिद्धर्षि के बीच के गुरु-शिष्य भाव का क्या अर्थ है ? वे दोनों समकालीन थे या नहीं ? इस लिये अब हमको, इन सब उल्लेखों को यहीं छोड़ कर, खुद सिद्धर्षि और हरिभद्र के ग्रन्थोक्त आन्तर प्रमाणों का ऊहापोह करके तथा अन्य ग्रन्थों में मिलते हुए इसी विषय के संवादी उल्लेखों के पूर्वापर भाव का यथासाधन विचार करके, उनके द्वारा इन दोनों महात्माओं के सम्बन्ध और समय की मीमांसा करने की आवश्यकता है। अन्यथा इस विषय का निराकरण होना अशक्य है।

इस विषय के विचार के लिये हमने जितने प्रमाण संगृहीत किये हैं उनकी विस्तृत विवेचना करने के पहले, हम यहां पर जैनदर्शन-दिवाकर डॉ० हर्मन जेकोबी ने बड़े परिश्रम के साथ, प्रकृत विषय में कितने साधक बाधक प्रमाणों का सूक्ष्मबुद्धि पूर्वक ऊहापोह करके स्वसंपादित उपमितिभवप्रपञ्चा की प्रस्तावना में जो विचार प्रकाशित किये हैं उनका उल्लेख करना मुनासिब समझते हैं।

डॉ० साहब अपनी प्रस्तावना में सिद्धर्षि के जीवन चरित्र के बारे में उल्लेख करते हुए, प्रारम्भ में उपमिति० की प्रशस्ति में जो गुरुपरम्परा लिखी हुई है उसका सार देकर हरिभद्र की प्रशंसावाले पद्यों का अनुवाद देते हैं और फिर लिखते हैं कि—

"मेरा विश्वास है कि हरिभद्र और सिद्धर्षि विषयक इन उपर्युक्त श्लोकों के पढ़ने से सभी निष्पक्ष पाठकों को निश्चय हो जाएगा कि इनमें शिष्य ने अपने साक्षात् गुरु का वर्णन किया है परन्तु 'परम्परा गुरु' का नहीं। जिस प्रथम युरोपीय विद्वान् प्रो० ल्युमन ने [जर्मन ओरिएन्टल सोसायटी का जर्नल, पु० ४३ पृ० ३४८ पर] इन श्लोकों का अर्थ किया है उनका भी यही मन्तव्य था और हमारे इस अनुमान की, उपमितिभवप्रपंचा के प्रथम प्रस्ताव में सिद्धर्षि ने जो

हकीकत लिखी है उससे, पुष्टि भी होती है। वहाँ पर भिक्षुक निष्पुण्यक आत्मसुधार के प्रारम्भ से लेकर अन्त में जब वह अपना कुत्सित भोजन फेंक देता है और पात्र को धोकर स्वच्छ कर डालता है; अर्थात् आलंकारिक भाषा को छोड़ कर सीधे शब्दों में कहें तो, जब वह दीक्षा ले लेता है तब तक उस भिक्षुक को—इस सारे समय में धर्मबोधकर गुरु उपदेश देने वाले और रास्ता बतानेवाले वर्णित किये गये हैं। सिद्धर्षि स्वयं कहते हैं कि इस रूपककथा में वर्णित धर्मबोधकर गुरु आचार्य हरिभद्र ही हैं और भिक्षुक निष्पुण्यक स्वयं मैं ही हूँ। इससे स्पष्टतया जाना जाता है कि सिद्धर्षि को दीक्षा लेने तक सद्बोध देने वाले और सन्मार्ग पर लाने वाले साक्षात् हरिभद्र ही थे।

यद्यपि सिद्धर्षि के स्वकीय कथनानुसार वे हरिभद्र के समकालीन ही थे परन्तु जैनग्रन्थोक्त दन्तकथा, इन दोनों प्रसिद्ध ग्रन्थकारों के बीच में ४ शताब्दी जितना अन्तर बतलाती है। जैन परम्परा के अनुसार हरिभद्र की मृत्यु संवत् ५८५ में हुयी थी और उपमितिभवप्रपञ्चा की रचना, रचयिता के उल्लेखानुसार ९६२ में हुई थी। हरिभद्र और सिद्धर्षि के बीच में समय-व्यवधान बतलाने वाली दन्तकथा १३ वें शतक में प्रचलित थी, ऐसा मालूम देता है। क्योंकि प्रभावकचरितकार हरिभद्र और सिद्धर्षि के चरित्रों में, इन दोनों के साक्षात्कार के विषय में कुछ भी नहीं लिखते। यद्यपि वे इनके समय के सूचक वर्षों का उल्लेख नहीं करते हैं, तथापि, इन दोनों को वे समकालीन मानते हों ऐसा बिलकुल मालूम नहीं देता। क्योंकि वैसा मानते तो इनके चरितों में इस बात का अवश्य उल्लेख करते तथा इन दोनों के चरित्र जो दूर-दूर पर दिये हैं—हरिभद्र का चरित्र ९वें सर्ग में और सिद्धर्षि का १४वें सर्ग में दिया है—वैसा न करके पास-पास में देते। प्रस्तुत विषय में इस दन्तकथा के वास्तविक मूल्य का निर्णय करने के लिये हरिभद्र और सिद्धर्षि के समय विचार की और उसके साथ सम्बन्ध रखने वाले दूसरे विषयों की पर्यालोचना करनी आवश्यक है।

कथा की प्रशस्ति के अन्त में सिद्धर्षि लिखते हैं कि यह ग्रन्थ संवत् ९६२ के ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी गुरुवार के दिन जब चन्द्र पुनर्वसु नक्षत्र में विद्यमान था, तब समाप्त हुआ। इसमें यह नहीं लिखा हुआ है कि, यह ९६२ का वर्ष वीर, विक्रम, गुप्त, शक आदि में से कौन से

संवत्सर का है। यदि यह वर्ष विक्रम संवत् मान लिया जाय तो उस दिन के विषय में लिखे गये वार आदि सब ठीक मिल जाते हैं। विक्रम संवत् ९६२ के ज्येष्ठ शुक्ल ५ के दिन ईस्वी सन् ९०६ के मई मास की १ तारीख आती है। उस दिन चन्द्रमा सूर्योदय से लेकर मध्याह्नकाल के बाद तक पुनर्वसु नक्षत्र में था, वार भी गुरु ही था। परंतु इस वर्ष को वीर संवत् मानें तो उस दिन ई० स० ४३६ के मई मास की ७वीं तारीख आती है। वार उस दिन भी गुरु ही आता है, परंतु चन्द्रमा सूर्योदय के समय पुष्य नक्षत्र में रह कर फिर दो घंटे बाद अश्लेषा नक्षत्र में चला जाता है। इस लिये नक्षत्र बराबर नहीं मिलता। अतः प्रस्तुत संवत् वीरसंवत् नहीं होना चाहिए। दूसरी बात यह है कि, यदि इसे वीर संवत् माना जाय तो यह विक्रम संवत् ४९२ होता है और इससे तो सिद्धर्षि अपने गुरु हरिभद्र जो दंतकथा के कथनानुसार विक्रम संवत् ५८५ में स्वर्गस्थ हुए, उनसे भी पूर्व में हो जाने वाले सिद्ध होते हैं। इस लिये सिद्धर्षि का संवत् निस्सन्देह विक्रम संवत् ही है और वह ई० स० ९०६ बराबर है।

जैन परम्परा प्रचलित दन्तकथा के अनुसार हरिभद्र का मृत्यु समय विक्रम संवत् ५८५ (ई० सं० ५२९) अर्थात् वीर संवत् १०५५ है। यह समय हरिभद्र के ग्रन्थों में लिखी हुई कितनी बातों के साथ सम्बद्ध नहीं होता। षड्दर्शनसमुच्चय नामक ग्रन्थ में हरिभद्र दिङ्नाग शाखा के बौद्धन्यायका संक्षिप्त सार देते हैं, उनमें प्रत्यक्ष की व्याख्या 'प्रत्यक्षं कल्पना पोढमभ्रान्तं' ऐसी दी हुई। यह व्याख्या न्याय-बिन्दु के प्रथम परिच्छेद में धर्मकीर्ति की दी हुई व्याख्याके साथ शब्दशः मिलती है। दिङ्नाग की व्याख्या में 'अभ्रान्त' शब्द नहीं मिलता उनकी व्याख्या इस प्रकार है—'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्।' (द्रष्टव्य न्यायवार्तिक, पृ० ४४; तात्पर्य टीका, पृ० १०२; तथा सतीश-चन्द्र विद्याभूषण लिखित – मध्यकालीन भारतीय न्यायशास्त्र का इतिहास, पृ० ८५, नोट २.) हरिभद्रसूरि की दी हुई व्याख्यामें आवश्य-कीय 'अभ्रान्त' शब्दकी वृद्धि हुई , इसलिये जाना जाता है कि उन्होंने धर्मकीर्ति का अनुकरण किया है। धर्मकीर्ति का समय जैन दन्तकथा में बतलाये गये हरिभद्र के मृत्युसमय स० १०० वर्ष पीछे माना जाता है। इसलिये हरिभद्र का यह संवत् सत्य नहीं होना चाहिए। पुनः षड्-

दर्शनसमुच्चय के ११वें श्लोक में हरिभद्रसूरि बौद्धन्याय सम्मत लिंग (हेतु) के तीन रूप इस प्रकार लिखते हैं—

रूपाणि पक्षधर्मत्वं सपक्षे विद्यमानता ।
विपक्षे नास्तिता हेतोरेवं त्रीणि विभाव्यताम् ।।

यह बौद्ध न्यायका सुज्ञात सिद्धान्त है, परन्तु हरिभद्र प्रयुक्त पक्ष-धर्मत्व पद खास ध्यान खींचने लायक है। क्योंकि न्यायशास्त्र के पुराने ग्रन्थों में यह पद दृष्टिगोचर नहीं होता। प्राचीन न्यायग्रन्थों में इस पदवाच्य भाव को दूसरे शब्दों द्वारा प्रकट किया गया है। यह पद न्यायग्रंथों में पीछे से प्रयुक्त होने लगा है। इससे जाना जाता है कि हरिभद्रसूरि कहे जाने वाले समयसे बाद में हुए होने चाहिए। 'अष्टक-प्रकरण' नामक अपने ग्रंथ के चौथे अष्टक में हरिभद्रसूरिने शिवधर्मोत्तर का उल्लेख किया है। इससे भी यही बात जानी जाती है, क्योंकि अज्ञात समयका यह ग्रन्थ बहुत पुरातन हो ऐसा प्रतीत नहीं होता। शंकर की श्वेताश्वतर उपनिषद् की टीका में इस ग्रन्थ का नाम मिलता है। यदि, हरिभद्रसूरि के ग्रन्थों का ठीक-ठीक अभ्यास और उनका बराबर शोध किया जाय तो, दन्तकथा में बतलाये हुए समय से वे अर्वाचीन समय में हुए थे, इसका प्रायः निर्णय हो जायेगा।

'हरिभद्रसूरिके स्वर्गगमन की साल (जो विक्रम संवत् ५८५ और वीर संवत् १०५५ है) १६वीं शक शताब्दीसे प्राचीन नहीं ऐसे ग्रन्थों में से मिल जाती है। पिछले ग्रन्थकारों ने यह साल मनगढ़न्त खड़ी करदी है, ऐसा कहने का मेरा आशय नहीं है, परन्तु वास्तविक बात का भ्रान्त अर्थ करनेके कारण यह भूल उत्पन्न हुई है, ऐसा मैं समझता हूँ। अन्तिम नोट में (— द्रष्टव्य नीचे* दी हुई टिप्पणी) दिखलाये हुए मेरे अनुमान को स्वीकार करके प्रो० ल्युमन लिखते हैं (जर्मन ओरिएन्टल सोसाइटी का जर्नल पु. ४३ पृ० ३४८) कि अन्यान्य सालों के (वही जर्नल पु० ३७, पृ० ५४० नोट.) समान हरिभद्र के स्वर्गगमन की साल

*जर्मन ओरिएन्टल सोसाइटी के जर्नल की ४० वीं जिल्द में पृ. ९४ पर लेखक श्री जिनविजय जी ने लिखा है कि—हरिभद्रसूरि और शीलाङ्काचार्य दोनोके गुरु जिनभद्र या जिनभट थे, इसलिये ये दोनों समकालीन थे। शीलाङ्क ने आचाराङ्गसूत्र के ऊपर ७९८, ई. स. ८७६ में टीका लिखी है।

के बारेमें भी संवत् लिखनेमें ग्रंथकारोंको भ्रान्ति हुई है। ५८५ का जो साल है वह वीर या विक्रम संवत् की नहीं है परन्तु गुप्त संवत् की है। गुप्त संवत् ईस्वी सन् ३१९ में शुरू हुआ था। इसहिसाबसे हरिभद्र के स्वर्गगमनकी साल ई. सं. ९०४ आती है; अर्थात् उपमितिभवप्रपञ्चा-की रचनासमाप्तिके ५ वर्ष पहले आती है। यह कथन सच हो सकता है; परन्तु दन्तकथामें प्रचलित वीर संवत् की १०५५ वाली साल ली जाय और भ्रान्ति (भूल) उसमेंसे उत्पन्न हुई है ऐसा माना जाय तो इस दन्तकथावाली सालमें होने वाली भ्रान्तिका खुलासा एक दूसरी तरह से भी किया जा सकता है। अपनी इस कल्पना के पीछे मुझे निम्न-लिखित कारण मिलता है। पउमचरियं नामक ग्रंथ के अन्त में, उसके कर्ता विमलसूरि कहते हैं कि यह ग्रन्थ उन्होंने वीर निर्वाण बाद ५३० (दूसरी पुस्तकमें ५२०) वें वर्ष में बनाया है। ग्रन्थकर्ताके इस कथनको न मानने का कोई कारण नहीं है। परन्तु वह ग्रंथ ईस्वी सन् के चौथे वर्ष में बना था, यह मानना कठिन लगता है। मेरे अभिप्राय के अनु-सार 'पउमचरियं' ईस्वीसन् की तीसरी या चौथी शताब्दी में बना हुआ होना चाहिए। चाहे जैसा हो; परन्तु पूर्वकालमें महावीर निर्वाण काल की गणना वर्तमान गणनाकी तरह एक ही प्रकार से नहीं होती थी। ऐसा सन्देह लाने में कारण मिलते हैं; और अगर ऐसा न हो तो भी प्राचीन कालमें निर्वाण समयकी गणनामें भूल अवश्य चली आती थी, जो पीछे से सुधार ली गई है।'

—डॉ० जेकोबी की उपमि० प्रस्तावना, पृ० ६-१०।

डॉ० जैकोबी के इस कथन का सार इतना ही है कि वे हरिभद्र और सिद्धर्षि—दोनों को समकालीन मानते हैं और उनका समय सिद्धर्षि के लेखानुसार विक्रम की १०वीं शताब्दी स्वीकरणीय बतलाते हैं। हरिभद्र की मृत्यु-संवत् सूचक गाथा में जो ५८५ वर्ष का जिक्र है वह वर्ष विक्रम संवत्सर का नहीं परन्तु गुप्त संवत्सरका समझना चाहिए। गुप्त संवत् और विक्रम संवत्के बीचमें ३७६ वर्ष का अन्तर रहता है। इसलिये ५८५ में ३७६ मिलानेसे ९६१ होते हैं। इधर सिद्धर्षि की कथाके ९६२ में समाप्त होने का स्पष्ट उल्लेख है ही अतः वे दोनों बराबर समकालीन सिद्ध हो जाते हैं। हरिभद्रके मृत्यु संवत् ५८५ को विक्रमीय न मानने में मुख्य कारण, एक तो सिद्धर्षि

जो उनको अपना गुरु बतलाते हैं वह है, और दूसरा यह है कि हरिभद्रके निजके ग्रन्थोंमें ऐसे ग्रंथकारोंका उल्लेख अथवा सूचन है, जो विक्रमीय छठीं शताब्दी के बाद हुए हैं। इसलिये उनका उतने पुराने समयमें होना दोनों तरह से असंगत है।

टिप्पणी—मुनि धनविजयजी ने चतुर्थस्तुतिनिर्णयशंकोद्धार नामक पुस्तक में हरिभद्र और सिद्धर्षि के समकालीन होने में कुछ दो-एक और दूसरे प्रमाण दिये हैं जिन्हें भी संग्रह की दृष्टिसे यहाँ तक लिख देते हैं। उन्होंने एक प्रमाण खरतरगच्छीय रंगविजय लिखित पट्टावली का दिया है। इस पट्टावली में वि. सं. १०८० में होनेवाले जिनेश्वरसूरि से पूर्व के चौथे पट्ट पर हरिभद्रसूरि हुए, ऐसा उल्लेख है। अर्थात् जिनेश्वरसूरि ३३ वें पट्टधर थे और हरिभद्रसूरि २९ वें पट्टधर। इस उल्लेखानुसार, मुनि धनविजयजी का कहना है कि १०८० में से ४ पट्ट के २५० वर्ष निकाल देने से शेष ८३० वर्ष रहते हैं, तो ऐसे समय में हरिभद्रसूरि हुए होंगे। (जब इस उल्लेख के आधार पर हरिभद्र को सिद्धर्षि के समकालीन सिद्ध करना है तो फिर ४ पट्ट के २५० वर्ष जितने अव्यवहार्य संख्यावाले वर्ष के निकालने की क्या जरूरत है। ऐतिहासिक विद्वान् सामान्य रीति से एक मनुष्य के व्यावहारिक जीवन के २० वर्ष गिनते हैं और इस प्रकार एक शताब्दी में पांच पुरुष-परम्परा के हो जाने का साधारण सिद्धान्त स्वीकार करते हैं। इस लिये ४ पट्ट के ज्यादा से ज्यादा सौ सवा सौ वर्ष बाद कर, हरिभद्र को सीधे सिद्धर्षि के समकालीन मान लेने में अधिक युक्तिसंगतता है।)

दूसरा प्रमाण धनविजयजी ने यह दिया है कि रत्नसंचयप्रकरण में, निम्नलिखित गाथार्ध में हरिभद्र का समय वीर संवत् १२५५ लिखा है। यथा—

'पणपण्णबारससए हरिभद्दो सूरि आसि पुव्वकए'

इस गाथा के 'भावार्थ' में लिखा है कि—'वीरथी बारसे पंचावन वर्षे श्रीहरिभद्रसूरि थया। पूर्वसंघ (?) ना करनार।' इस पर धनविजयजी अपनी टिप्पणी करते हैं कि, वीर संवत् १२५५ में से ४७० वर्ष निकाल देनेपर विक्रम संवत् ७८५ आते हैं। सम्भव है कि हरिभद्रसूरि का आयुष्य सौ वर्ष जितना दीर्घ हो और इस कारण से वे सिद्धर्षि के, निदान बाल्यावस्थामें, तो समकालीन हो सकते हैं (!)।

जेकोबी साहबने हरिभद्रसूरि के समय ग्रंथ देखे बिना ही—केवल षड्दर्शनसमुच्चय के बौद्धन्यायसम्मत प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण को देख कर ही उन्होंने जो धर्मकीर्ति के बाद हरिभद्र के होने का अनुमान किया है, वह निःसन्देह उनकी शोधक बुद्धि और सूक्ष्म प्रतिभाका उत्तम परिचय देता है। क्योंकि, जैसा हम आगे चल कर सविस्तार देखेंगे, हरिभद्र ने केवल धर्मकीर्तिकथित लक्षणका अनुकरण मात्र ही नहीं किया है, परन्तु उन्होंने अपने अनेकान्तजयपताकादि दूसरे ग्रन्थों में उन महान् बौद्ध तार्किक के हेतुबिन्दु आदि ग्रंथों में से अनेक अवतरण भी दिये हैं और पचासों बार साक्षात् उनका स्पष्ट नामोल्लेख तक भी किया है। इसलिये डा० साहबका यह अनुमान निःसन्देहरूप से सत्य है कि धर्मकीर्ति हरिभद्र के पुरोयायी थे। परन्तु इस प्रमाण और कथनसे हरिभद्रका सिद्धर्षि के साथ एक काल में होना हम नहीं स्वीकार कर सकते। यदि जेकोबी के कथन के विरुद्ध जानेवाला कोई निश्चित प्रमाण हमें नहीं मिलता, तब तो उनके उक्त निर्णय में भी अविश्वास लाने की हमें कोई जरूरत नहीं होती और न ही इस विषय-के पुनर्विचार की आवश्यकता होती। परन्तु हमारे सम्मुख एक ऐसा असन्दिग्ध प्रमाण उपस्थित है जो स्पष्टरूप से उनके निर्णय के विरुद्ध जाता है। इसी विरुद्ध प्रमाणकी उपलब्धि के कारण इस विषय-की फिरसे जाँच करने की जरूरत मालूम पड़ी और तदनुसार प्रकृत उपक्रम किया गया है।

तीसरा प्रमाण उन्होंने यह लिखा है—दशाश्रुतस्कन्धसूत्र की टीका के कर्त्ता ब्रह्मर्षि ने 'सुमतिनागिलचतुष्पदी' में लिखा है कि महानिशीथसूत्र के उद्धारकर्ता हरिभद्रसूरि वीरनिर्वाणबाद १४०० वर्षमें हुए। यथा—

'वरस चउदसे वीरह पछे,
ए ग्रंथ लिखओ तेणे अ छे।
दसपूर्वलग सूत्र कहाय,
पछे न एकान्ते कहवाय॥'

इस कथनानुसार विक्रम संवत् ९३० में हरिभद्र हुए ऐसा सिद्ध होता है। उनके बाद ३२ वें वर्षमें सिद्धर्षि ने उपमितिभवप्रपञ्चकथा बनाई। इस प्रमाणानुसार भी ये दोनों समकालीन ही सिद्ध होते हैं।]

अपनी इस जांच परिणामों में हमें जो-जो नये प्रमाण मिले हैं उनको क्रमशः उल्लिखित करने और उन प्रमाणों के आधार पर जो सिद्धान्त हमने स्थिर किया है उसका विस्तृत स्वरूप बतलाने के पहले, पाठकोंके ज्ञानसौकर्यार्थ, अपने निर्णयका सारांश हम प्रथम यहीं पर कह देते हैं कि, हमारे शोध के अनुसार हरिभद्रसूरि न तो उक्त प्राकृत गाथा आदि लेखों के अनुसार छठीं शताब्दी में विद्यमान थे और न डॉ० जेकोबी आदि लेखकों के कथनानुसार सिद्धर्षि के समान १०वीं शताब्दी में मौजूद थे। अपितु श्रमण भगवान् श्री महावीर-देव प्ररूपित आर्हत दर्शन के अजरामर सिद्धान्त स्वरूप 'अनेकान्तवाद' की 'जयपताका' को भारतवर्ष के आध्यात्मिक आकाश में उन्नत उन्नत-तर रूपसे उड़ाने वाले ये 'श्वेतभिक्षु' महात्मा अपने उज्ज्वल और आदर्श जीवन से आठवीं शताब्दी के सौभाग्य को अलंकृत करते थे।

अपने इस निर्णय को प्रमाणित करने के लिये हमें केवल दो ही बातों का समाधान करना होगा। एक तो सिद्धर्षि ने हरिभद्रसूरि को अपना धर्मबोधकर गुरु बतलाया है, उसका क्या तात्पर्य है, इस बात का और दूसरा प्राकृत गाथा में और उसके अनुसार अन्यान्य पूर्वोक्त ग्रंथों में हरिभद्रका स्वर्गगमन जो विक्रम संवत् के ५८५वें वर्षमें लिखा है उसका स्वीकार क्यों नहीं किया जाता, इस बात का। इसमें पहली बात का-सिद्धर्षि के लिखे हुए हरिभद्रपरक गुरुत्व का समाधान इस प्रकार है—

उपमितिभवप्रपञ्चकथा में लिखे हुए सिद्धर्षि के एतद्विषयक वाक्यों का सूक्ष्मबुद्धिपूर्वक विचार किया जाय और उनका पूर्वापर सम्बन्ध लगाया जाय तो प्रतीत होगा कि, सिद्धर्षि हरिभद्र को अपना साक्षात् (प्रत्यक्ष) गुरु नहीं मानते परन्तु परोक्षगुरु अर्थात् आरोपित-रूप से गुरु मानते हैं। उपमि० की प्रशस्ति में उन्होंने जो अपनी गुरु-परम्परा दी है, उसका यहाँ विचार करना हमारा कर्तव्य है। इस प्रशस्ति के पाठ से स्पष्ट ज्ञात होता है कि सिद्धर्षि के दीक्षाप्रदायक गुरु गर्गर्षि थे—अर्थात् उन्होंने गर्गर्षि के हाथ से दीक्षा ली थी। प्रशस्ति के सातवें पद्य में यह बात स्पष्ट लिखी हुई है। यथा—

सद्दीक्षादायकं तस्य स्वस्य चाहं गुरूत्तमम् ।
नमस्यामि महाभागं गर्गर्षिमुनिपुङ्गवम् ।।

प्रशस्ति के पाठ से यह भी ज्ञात होता है कि, गर्गर्षि मात्र सिद्धर्षि के 'दीक्षा गुरु' थे, बाकी और सब प्रकार का गुरुभाव उन्होंने दुर्गस्वामी में स्थापित किया है। क्योंकि दुर्गस्वामी की प्रशंसा में जब उन्होंने ५-६ श्लोक लिखे हैं और अपने को उनका 'चरणरेणुकल्प' लिखा है, तब गर्गर्षि को केवल एक श्लोक में नमस्कार मात्र किया है। साथ में इस उपर्युद्धृत श्लोक में दुर्गस्वामी को भी दीक्षा देने वाले गर्गर्षि ही बतलाये हैं। इससे यह भी अनुमान होता है कि शायद, गर्गर्षि मूल सूराचार्य के शिष्य और देल्लमहत्तर के गुरुबन्धु होंगे।[1] उन्होंने दुर्गस्वामी को दीक्षा अपने हाथ से दी होगी, परन्तु गुरुतया देल्ल-महत्तर का नाम प्रकट किया होगा (—ऐसा प्रकार आज भी देखा जाता है और दूसरे ग्रंथों में इस प्रकार के उदाहरणों के अनेक उल्लेख भी मिलते हैं)। सिद्धर्षि को भी उन्होंने या तो दुर्गस्वामी के ही नाम से दीक्षा दी होगी, अथवा अपने नाम से दीक्षा देकर भी उनको दुर्गस्वामी के स्वाधीन कर दिये होंगे, जिससे शास्त्राभ्यास आदि सब कार्य उन्होंने उन्हीं के पास किया होगा और इस कारण से सिद्धर्षि ने मुख्य कर उन्हीं को गुरुतया स्वीकृत किया है। यह चाहे जैसे हो, परन्तु कहने का तात्पर्य यह है कि सिद्धर्षि की प्रशस्ति के पाठ से तो उनके गुरु दुर्गस्वामी और साथ में गर्गर्षि ज्ञात होते हैं। ऐसी दशा में यहाँ पर, यह प्रश्न उपस्थित होता है कि डा० जेकोबी के कथनानुसार सिद्धर्षि को धर्मबोध करने वाले सूरि यदि साक्षात् रूप से आचार्य हरिभद्र ही होते तो फिर वे उन्हीं के पास दीक्षा लेकर उनके हस्तदीक्षित शिष्य क्यों नहीं होते ? गर्गर्षि और दुर्गस्वामी के शिष्य बनने का क्या कारण है ? इसके समाधान के लिये डा० जेकोबी ने कोई विचार नहीं किया।

---

१. ऊपर का कथन लिखे बाद पीछे से जब प्रभावकचरित में देखा तो उसमें वही बात लिखी मिली जो हमने अनुमानित की है। अर्थात् इसके लेखक ने गर्गर्षि को सूराचार्य का ही 'विनेय' (शिष्य) लिखा है। यथा—

'आसीन्निवृत्तिगच्छे च सूराचार्यो धियां निधिः ।
तद्विनेयश्च गर्गर्षिरहं दीक्षागुरुस्तव ।।'

प्रभावकचरित, पृ० २०१, श्लोक ८५

पाठक यहाँ पर हमसे भी इसी तरह का उलटा प्रश्न यह कर सकते हैं कि जब हमारे विचार से हरिभद्र सिद्धर्षि के साक्षात् या वास्तविक गुरु नहीं थे तो फिर स्वयं उन्होंने

'आचार्य हरिभद्रो मे धर्मबोधकरो गुरुः।'

ऐसा उल्लेख क्यों किया? इस उल्लेख का क्या मतलब है?

इस प्रश्न का यद्यपि हमको भी अभी तक यथार्थ समाधान नहीं हुआ है, तथापि इतनी बात तो हमें निश्चित रूप से प्रतीत होती है कि हरिभद्र का सिद्धर्षि को कभी साक्षात्कार नहीं हुआ था। प्रमाण में, प्रथम तो सिद्धर्षि का ही उल्लेख ले लिया जाय। उपमि० की प्रशस्ति में हरिभद्र की प्रशंसा वाले जो तीन श्लोक हम पहले लिख आये हैं उनमें तीसरा[1] श्लोक विचारणीय है। इस श्लोक में सिद्धर्षि 'अनागतं परिज्ञाय' ऐसा वाक्य-प्रयोग करते हैं। 'अनागतं' शब्द का यहाँ पर दो तरह से अर्थ लिया जा सकता है[2]—एक तो, यह शब्द सिद्धर्षि का विश्लेषण हो सकता है और इसका विशेष्य मां (मुझको)

१. वास्तव में यह श्लोक दूसरा होना चाहिए और जो दूसरा है वह तीसरा होना चाहिए। क्योंकि इस श्लोक का अन्वयार्थ पहले श्लोक के साथ सम्बन्ध रखता है। प्रभावकचरित में इसी क्रम से वे श्लोक लिखे हुए भी उपलब्ध हैं। (द्रष्टव्य, पृ० २०४)

२. मुनि धनविजयजी ने चतुर्थस्तुतिनिर्णयशंकोद्धार में 'अनागत' शब्द का प्रसिद्ध अर्थ जो 'भविष्यत्' वाचक है उसे छोड़कर और कई प्रकार के विलक्षण अर्थ किये हैं और उनके द्वारा सिद्धर्षि का हरिभद्रसूरि के समान काल में होना सिद्ध किया है। धनविजयजी के ये विलक्षण कार्य इस प्रकार हैं:—'अनागत' याने बौद्ध में से मुझको (सिद्धर्षि को) नहीं आया हुआ जान कर; अथवा 'अनागत' याने जैनमत से अज्ञात मान कर; तथा 'अनागत' याने भविष्य में मैं बौद्धपरिभावितमति हो जाऊँगा, ऐसा जान कर; पुनः 'अनागत' याने आगमनकर्ताका भिन्नत्व (?) जानकर—अर्थात् २२ वीं बार बौद्धधर्म में से मुझे नहीं आता जानकर; फिर 'अनागत' याने सम्पूर्णबोध को प्राप्त हुआ न जानकर; चैतन्यवन्दन का आश्रय लेकर, श्री हरिभद्रसूरि ने मेरे प्रतिबोध के लिये ललितविस्तरावृत्ति बनाई। इस तरह का 'अनागत' परिज्ञात इस श्लोक का अर्थ संभवित लगता है [!]।'

यह अध्याहृत रहता है; इस विचार से, इसका अर्थ 'अनागत याने भविष्य में होनेवाले ऐसे मुझको जानकर' ऐसा होता है। दूसरा यह शब्द क्रियाविशेषण भी बन सकता है और उसका व्याकरणशास्त्र की पद्धति के अनुसार 'अनागतं यथा स्यात् तथा परिज्ञाय' ऐसा शाब्दबोध होता है। इसका अर्थ 'अनागत याने भविष्य में जैसा होगा वैसा जान कर' ऐसा होता है। दोनों तरह के अर्थ का तात्पर्य एक ही है और वह यह है कि सिद्धर्षि के विचार से हरिभद्र का ललितविस्तारारूप बनाने वाला कार्य भविष्यत्कालीन उपकार की दृष्टि से है। इससे यह स्वतः स्पष्ट है कि हरिभद्र ने ललितविस्तरा किसी अपने समानकालीन शिष्य के विशिष्ट बोध के लिये नहीं बनाई थी और जब ऐसा है तो, तर्कसरणि के अनुसार यह स्वयंसिद्ध हो गया कि उस वृत्ति को अपने ही विशिष्ट बोध के लिये रची गई मानने वाला शिष्य, उन आचार्य से अवश्य ही पीछे के काल में हुआ था। हमारे विचार से प्रस्तुत श्लोक के उत्तरार्ध में ललितविस्तरा के विशेषण रूप में 'मदर्थैव कृता—(मेरे ही लिये की गई)' ऐसा जो पाठ है उसकी जगह 'मदर्थेव कृता—(मानों मेरे लिये की गई), ऐसा होना चाहिए। क्योंकि उक्त रीति से जब सिद्धर्षि अपना अस्तित्व हरिभद्र के बाद किसी समय में—होना सूचित करते हैं तो फिर उनकी कृति को निश्चय रूप से (एवकार शब्द का प्रयोग कर) अपने ही लिये बनाई गई कैसे कह सकते हैं? इसलिये यहां पर 'इव' जैसे उपमावाचक (आरोपित अर्थसूचक) शब्द का प्रयोग ही अर्थसंगत है। बहुत सम्भव है कि उपमिति० की दूसरी हस्तलिखित पुस्तकों में इस प्रकार का पाठभेद मिल भी जायें।[1]

ललितविस्तरावृत्ति सिद्धर्षि को किस रूप में उपकारक हो पड़ी थी, अथवा किस कारणसे उन्होंने उसका स्मरण किया है, इस बातका पता उनके लेखसे बिलकुल नहीं लगता। उनके चरित्रलेखक, जो, बौद्धधर्म के संसर्गके कारण जैनधर्म से उनका चित्तभ्रंश होना और फिर इस

१. प्रभावकचरित में 'मदर्थे निर्मिता येन' ऐसा पाठ मुद्रित है। इसी तरह दूसरी पुस्तकोंमें उक्त प्रकारका दूसरा पाठ भी मिलना बहुत सम्भवित है।

वृत्तिके अवलोकनसे पुनः स्थिर होना, इत्यादि प्रकारकी बातें लिखते हैं, वे कहां तक सत्य हैं इसका कोई निर्णय नहीं हो सकता। ललित-विस्तरा की पञ्जिका लिखनेवाले मुनिचंद्रसूरि, जो सिद्धर्षि से मात्र २०० वर्ष बाद हुए हैं वे भी, इस प्रवाद की पुष्टि में प्रमाणरूप गिना जाय, ऐसा ही अपना अभिप्राय लिखते हैं[1]। परंतु, इधर जब हम एक तरफ ललितविस्तरा में चर्चित विषय का विचार करते हैं और दूसरी तरफ उपमि० में वर्णित सिद्धर्षि के आन्तर जीवन का अभ्यास करते हैं तब, इन दोनों ग्रन्थों में, इस प्रचलित प्रवाद की सत्यता का निश्चायक ऐसा कोई भी प्रमाण हमारी दृष्टि में नहीं आता। ललितविस्तरा में यद्यपि अर्हद्देवकी आप्तता और पूज्यता बड़ी गंभीर और हृदयङ्गम-रीतिसे स्थापित की गई है, तथापि उसमें ऐसा कोई विशेष विचार नहीं है जिसके अवलोकन से, बौद्धन्यायशास्त्र के विशिष्ट अभ्यास के कारण सिद्धर्षि जैसे प्रतिभाशाली और जैनशास्त्रके पारदर्शी विद्वान् का स्वधर्मसे चलायमान हो जानेवाला मन सहज में पुनः स्थिर हो जाय। हां, यदि हरिभद्र के ही बनाये हुए अनेकान्तजयपताकादि ग्रंथोंके लिये ऐसा विधान किया हुआ होता तो उसमें अवश्य सत्य माननेकी श्रद्धा उत्पन्न हो सकती है। क्योंकि उन ग्रंथों में बौद्धशास्त्रके समग्र कुतर्कों का बड़ी अकाट्य युक्तियों द्वारा संपूर्ण निराकरण किया गया है। दूसरी बात यह है कि, यदि सिद्धर्षि का उक्त प्रवादानुसार वैसा जो विश्वविश्रुत धर्मभ्रंश हुआ होता तो उसका जिक्र वे उपमिति० के प्रथम प्रस्ताव में अपने 'स्वसंवेदन' में अवश्य करते। क्यों कि सांसारिक कुवासनाजन्य धर्मभ्रंश का वर्णन विस्तार के साथ उन्होंने दो—तीन जगह किया है (द्रष्टव्य, उप० पृ. ९३–९४) परंतु दार्शनिक कुसंस्कारजन्य धर्मभ्रंश का उल्लेख कहीं भी नहीं किया है। यद्यपि एक जगह, कुतर्क वाले ग्रन्थ

---

१. मुनिचन्द्रसूरिने पञ्जिकामें ललितविस्तरावृत्ति की विवृत्ति करनेके लिये अपनी अपमर्थता बताते हुए निम्नलिखित पद्य लिखा है।—

'या बुद्ध्वा किल सिद्धसाधुरखिलव्याख्यातृचूडामणिः
सम्बुद्धः सुगतप्रणीतसमयाभ्यासाञ्चलच्चेतनः।
यत्कर्तुः स्वकृतौ पुनर्गुरुतया चक्रे नमस्यामसौ
को ह्येनां विवृणोतु नाम विवृतिं स्मृत्यै तथाप्यात्मनः॥'

और उनके प्रणेता कुतैर्थिक, मुग्ध जन को किस प्रकार भ्रान्त करते हैं और तत्त्वाभिमुखता से किस प्रकार पराङ्मुख बनाते हैं, उसका उल्लेख आया है (द्रष्टव्य उप० पृ० ४६); तथापि वह सर्वसाधारण और निष्पुण्यक की भगवद्धर्म प्राप्ति के पूर्व का वर्णन होने से उस पर से सिद्धर्षि के प्रावादिक धर्मभ्रंश का कुछ भी सूचन नहीं होता। अतः इस बात का हम कुछ निर्णय नहीं कर सके कि ललितविस्तरा वृत्ति का स्मरण सिद्धर्षि ने क्यों किया है। हां, इतनी बात तो जानी जाती है कि यह वृत्ति उन्हें अभ्यस्त अवश्य थी और इस पर उनकी भक्ति थी। क्यों कि इस वृत्ति की वाक्य शैली का उन्होंने अपने महान् ग्रन्थ में उत्तम अनुकरण किया है, मात्र इतना ही नहीं है परतु इसमें जितने उत्तम-उत्तम धार्मिक भावना वाले वाक्य हैं वे सब एक दूसरी जगह ज्यों के त्यों अन्तर्हित भी कर लिये हैं। उदाहरण के लिये चतुर्थ प्रस्ताव में जहां पर नरवाहन राजा विचक्षण नाम के सूरि के पास जा कर बैठता है, तब सूरि ने जो उपदेशात्मक वाक्य उसे कहे हैं वे सब सिद्धर्षि ने ललितविस्तरा में से ही ज्यों के त्यों उद्धृत किये हैं (द्रष्टव्य, उपमि. पृ. ४७७, और ललित० पृ. ४६–७)। इसी तरह सातवें प्रस्ताव में भी एक-जगह बहुत सा उपदेशात्मक अवतरण यथावत् उद्धृत (अन्तर्हित) किया हुआ है (उपमि. पृ. १०९२ और ललित पृ. १६६)। इससे यह निश्चित ज्ञात होता है कि सिद्धर्षि को यह ग्रन्थ बहुत प्रिय था और इस प्रियता में कारणभूत, किसी प्रकार का इस ग्रन्थ का, उनके ऊपर विशिष्ट उपकारकत्व ही होगा। बिना ऐसे विशिष्ट उपकारकत्व के उक्त रीति से, इस ग्रन्थ का सिद्धर्षि द्वारा बहुमान किया जाना संभवित और संगत नहीं लगता। जिस ग्रन्थ के अध्ययन वा मनन से अपनी आत्मा उपकृत होती हो, उस ग्रन्थ के प्रणेता महानुभाव को भी अपना उपकारी मानना-समझना और तदर्थ उसको नमस्कारादि करना, यह एक कृतज्ञ और सज्जन का प्रसिद्ध लक्षण है और वह सर्वानुभव सिद्ध ही है। अतः हरिभद्र के समकालीन न होने पर भी सिद्धर्षि का, उनको गुरुतया पूज्य मानकर नमस्कारादि करना और उन्हें अपना परमोपकारी बतलाना तथा उनकी बनाई हुई ललितविस्तरावृत्ति के लिये 'मदर्थेव कृता—मानों मेरे लिये की गई, भावनात्मक कल्पना करना सर्वथा युक्तिसंगत है।

उपर्युक्त कथनानुसार सिद्धर्षि हरिभद्रसूरि की अपेक्षा से अनागत याने भविष्यकालवर्ती थे, यह बात निश्चित सिद्ध होती है। इसी बात का विशिष्ट उल्लेख उन्होंने, उपमिति० के प्रथम प्रस्ताव में और भी स्पष्ट रूप से कर दिया है। इस प्रस्ताव में सिद्धर्षि ने, निष्पुण्यक भिखारी के राजमन्दिर के चौक में प्रविष्ट होने पर उस पर महाराज की दयार्द्र दृष्टि के पड़ने और उस दृष्टिपात को देखकर महाराज की पाकशाला के धर्मबोधकर नामक अधिकारी के मनमें, उसके कारण को विचारने का, जो रूपकात्मक वर्णन दिया है उस वर्णन को फिर अपने अन्तरंग जीवन के ऊपर घटाते हुए तथा रूपक का अर्थ स्फुट करते हुए उन्होंने लिखा है कि—

'यथा च तां महाराजदृष्टिं तत्र रोरे निपतन्तीं धर्मबोधकराभिधानो महानसनियुक्तो निरीक्षितवानित्युक्तम्, तथा परमेश्वरावलोकनां मज्जीवे भवतीं धर्मबोधकरणशीलो 'धर्मबोधकरः' इति यथार्थाभिधानो मन्मार्गोपदेशकः 'सूरिः' स निरीक्षते स्म।

—(उपमिति०, पृ० ८०)

अर्थात्—'पहले जो भोजनशाला के अधिकारी धर्मबोधकर ने उस भिखारी पर पड़ती हुई महाराज की दृष्टि देखी' ऐसा कहा गया है, उसका भावार्थ 'धर्म का बोध (उपदेश) करने में तत्पर होने के कारण धर्मबोधकर' के यथार्थ नाम को धारण करने वाले ऐसे जो मेरे मार्गोपदेशक सूरि हैं, उन्होंने मेरे जीवन पर पड़ती हुई परमेश्वर की अवलोकना (ज्ञानदृष्टि) को देखी, ऐसा समझना चाहिए।'

इस रूपक को अपने जीवन पर इस प्रकार उपमित करते हुए सिद्धर्षि के मन में यह स्वाभाविक शंका उत्पन्न हुई होगी कि रूपक में जो धर्मबोधकरका, भिखारी पर पड़ती हुई दृष्टि के देखने का वर्णन दिया गया है वह तो साक्षात् रूप में है। अर्थात्, जब भिखारी पर महाराज की दृष्टि पड़ती थी तब धर्मबोधकर (पाकशालाधिपति) वहां पर प्रत्यक्ष रूप से हाजिर था। परन्तु इस उपमितार्थ में तो यह बात पूर्ण रूप से घट नहीं सकती। क्योंकि परमेश्वर तो सर्वज्ञ होने से उनकी दृष्टि का पड़ना तो मेरे ऊपर वर्तमान में भी सुघटित है, परन्तु जिनको मैंने अपना धर्मबोधकर गुरु माना है वे (हरिभद्र) सूरि तो मेरे इस वर्तमान जीवन में विद्यमान हैं ही नहीं और न वे परमेश्वर

की तरह सर्वज्ञ ही माने जा सकते हैं, इसलिये इस उपमान की अर्थ-संगति कैसे लगाई जाय। [पाठक यहाँ पर यह बात ध्यान में रक्खें कि सिद्धर्षि ने इन सारे प्रसंग में धर्मबोधकर गुरु का वर्णन दिया है वह हरिभद्रसूरि को ही लक्ष्य कर है। क्योंकि प्रशस्ति में यह बात खास तौर से, उन्होंने लिख दी है। द्रष्टव्य ऊपर पृष्ठ २९ पर, हरिभद्र की प्रशंसा में लिखे गये तीन श्लोकों में पहला श्लोक।]

इस शङ्का का उन्मूलन करने के लिये और प्रकृत उपमान की अर्थ सङ्गति लगाने के लिये उस क्रान्तदर्शी महर्षि ने अपने अनुपम प्रातिभ कौशल से निम्नलिखित कल्पना का निर्माण कर अपूर्व बुद्धि-चातुर्य बतलाया है। वे लिखते हैं कि—

'सद्ध्यानबलेन विमलीभूतात्मानः परहितैकनिरतचित्ता भगवन्तो ये योगिनः पशन्त्येव देशकालव्यवहितानामपि जन्तूनां छद्मस्थावस्थायामपि वर्तमाना दत्तोपयोगा भगवदवलोकनाया योग्यताम्। पुरोवर्तिनां पुनः प्राणिनां भगवदागमपरिकर्मितमतयोऽपि योग्यतां लक्षयन्ति, तिष्ठन्तु विशिष्टज्ञाना इति। ये च मम सदुपदेशदायिनो भगवन्तः सूरयस्ते विशिष्टज्ञाना एव, यतः कालव्यवहितैरनागतमेव तैर्ज्ञातः समस्तोऽपि मदीयो वृत्तान्तः। स्वसंवेदनसिद्धमेतदस्माकमिति।

उप० पृ० ८०।

अर्थात्—'सद्ध्यान के बल से जिनकी आत्मा निर्मल हो गयी है और जो परहित में सदा तत्पर रहते हैं ऐसे योगी महात्मा, छद्मस्थावस्था याने असर्वज्ञदशा में भी विद्यमान होकर, अपने उपयोग (ज्ञान) द्वारा, देशान्तर और कालांतर में होने वाले प्राणियों की, भगवान् के दृष्टिपात के योग्य ऐसी, योग्यता को जान लेते हैं तथा इसी तरह जिनकी मति भगवान् के आगमों के अध्ययन से विशुद्ध हो गई है वैसे आगमाभ्यासी पुरुष भी इस प्रकार की योग्यता को जान सकते हैं तो फिर विशिष्टज्ञानियों (श्रुतज्ञानियों) की तो बात ही क्या है ? और जो मुझको सदुपदेश देने वाले आचार्य महाराज हैं तो वे विशिष्टज्ञानी ही हैं। इसलिये 'काल से व्यवहित' याने कालांतर में (पूर्वकाल में) होने पर भी, उन्होंने 'अनागत, याने भविष्यकाल में होने वाला मेरा समग्र वृत्तांत जान लिया था। यह बात हमारी स्वसंवेदन (स्वानुभव) सिद्ध है।'

इस उल्लेख पर किसी प्रकार की टीका की जरूरत नहीं है। स्पष्ट रूप से सिद्धर्षि कहते हैं कि मुझसे कालव्यवहित अर्थात् पूर्वकाल में हो जानेवाले धर्मबोधकर सूरि (जो स्वयं हरिभद्र ही हैं) ने जो अनागत याने भविष्यकाल में होनेवाला मेरा समग्र वृत्तान्त जान लिया था उसका कारण यह है कि वे विशिष्टज्ञानी थे। हरिभद्रसूरि सचमुच ही सिद्धर्षि के जीवन के बारे में कोई भविष्यलेख लिख गये थे या कथागत उपमितार्थ की संगति के लिये सिद्धर्षि की यह स्वोद्भावित कल्पना मात्र है, इस बात के विचारने की यहाँ पर कोई आवश्यकता नहीं है। यहां पर इस उल्लेख की उपयोगिता इसी दृष्टि से है कि इसके द्वारा हम यह स्पष्ट जान सके हैं कि हरिभद्रसूरि सिद्धर्षि के समकालीन नहीं हैं किन्तु पूर्वकालीन हैं।

इस प्रकार सिद्धर्षि के निज के उल्लेख से तो हरिभद्रसूरि को पूर्वकालीनता सिद्ध होती ही है, परन्तु इस पूर्वकालीनता का विशेष साधक और अधिक स्पष्ट प्रमाण प्राकृत साहित्य के मुकुटमणि-समान 'कुवलयमाला' नामक कथाग्रन्थ में भी मिलता है। यह कथा दाक्षिण्यचिह्न के उपनाम वाले उद्योतनसूरि ने बनाई है। इसकी रचना-समाप्ति शक संवत् सात सौ के समाप्त होने में जब एक दिन न्यून था तब—अर्थात् शक संवत् ६९९ के चैत्रकृष्ण १४ के दिन[1]—हुई थी। यह उल्लेख कर्ता ने, स्वयं प्रशस्ति में निम्न प्रकार से किया है—

'···अह चोद्दसीए चित्तस्स किण्हपक्खम्मि।
निम्मविया बोहकरी भव्वाणं होउ सव्वाणं॥'

× × ×

'सगकाले वोलीणे वरिसाण सएहिं सत्तहिं गएहिं।
एगदिणे णूणेहिं एस समत्ता वरण्हम्मि॥'

---

१. राजपूताना और उत्तर भारत में पूर्णिमान्त मास माना जाता है। इस लिये यहां पर इसी पूर्णिमान्त मास की अपेक्षा से चैत्रकृष्ण का उल्लेख हुआ है। दक्षिण भारत की अपेक्षा से फाल्गुनकृष्ण समझना चाहिए। क्योंकि वहां पर अमान्त मास प्रचलित है। गुजरात में भी यही अमान्त मास प्रचलित है।

[टिप्पणी—यह कथा प्राकृत साहित्य में एक अमूल्य रत्न-समान है। यह ग्रन्थ अब सिंघी जैन ग्रन्थ माला से प्रकाशित हो चुका है। इसकी एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति, डेकन कालेज में है। यह कथा चम्पू के ढंग पर बनी हुई है। इसकी रचनाशैली बाण की हर्षाख्यायिका या त्रिविक्रम की नलचम्पू जैसी है। काव्य-चमत्कृति उत्तम प्रकार की और भाषा बहुत मनोरम है। प्राकृतभाषा के अभ्यासियों के लिये यह एक अनुपम ग्रन्थ है। इस कथा में कवि ने कौतुक और विनोद के वशीभूत होकर मुख्य प्राकृत भाषा के सिवा अपभ्रंश और पैशाची भाषामें भी कितने वर्णन लिखे हैं, जिनकी उपयोगिता भाषाशास्त्रियों की दृष्टि से और भी अत्यधिक है। अपभ्रंश भाषा में लिखे गए इतने प्राचीन वर्णन अभी तक अन्यत्र कहीं नहीं प्राप्त हुए हैं। इसलिये, इस दृष्टि से विद्वानों के लिये यह एक बहुत महत्त्व की चीज है। सुप्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्रसूरि के गुरुवर श्री देवचन्द्रसूरि ने 'संतिनाह चरियं' के उपोद्घात में, पूर्व कवियों और उनके उत्तम ग्रन्थों की प्रशंसा करते हुए इस कथा के कर्ता की भी इस प्रकार प्रशंसा की है—

दक्खिन्नइंदसूरिं नमामि वरवण्णभासिया सगुणा।
कुवलयमाल व्व महा कुवलयमाला कहा जस्स ॥

इस कथा का संक्षिप्त संस्कृत रूपान्तर १४वीं शताब्दी में होनेवाले रत्नप्रभसूरि नाम के एक विद्वान् ने किया है जिसे भावनगर की जैन आत्मानन्द सभा ने प्रकाशित किया है।

इस कथा और इसके कर्ता का उल्लेख प्रभावकचरित के सिद्धर्षि प्रबन्ध में आया है। वहाँ पर ऐसा वर्णन लिखा है कि—'दाक्षिण्यचन्द्र नाम के सिद्धर्षि के एक गुरु भ्राता थे। उन्होंने शृंगाररस से भरी हुई ऐसी कुवलयमालाकथा बनाई थी। सिद्धर्षि ने जब 'उपदेशमाला' नामक ग्रन्थ पर बालावबोधिनीटीका लिखी तब दाक्षिण्यचन्द्रने उनका उपहास करते हुए कहा कि 'पुराने ग्रन्थों के अक्षरों को कुछ उलटा-पुलटा कर नया ग्रंथ बनाने में क्या महत्त्व है ? शास्त्र तो 'समरादित्यचरित' जैसा कहा जा सकता है जिसके पढ़ने से मनुष्य भूख-प्यास के' भी भूल जाते हैं। अथवा मेरी बनाई हुई कुवलयमालाकथा भी कुछ वैसी कही ही जा सकती है जिसके वाचने से मनुष्य को उत्तरोत्तर रसाह्लाद आता रहता है। तुम्हारी रचना तो लेखक

इस कथा के प्रारम्भ में बाणभट्ट की 'हर्षाख्यायिका' और धनपाल कवि की 'तिलकमञ्जरी' आदि कथाओं की तरह, कितने एक प्राचीन कवि और उनके ग्रन्थों की प्रशंसा की हुई है। इस कवि प्रशंसा में, अन्त में, हरिभद्रसूरि की भी—उनकी बनाई हुई प्रशमरस परिपूर्ण प्राकृत भाषात्मक 'समराइच्चकहा' के उल्लेख पूर्वक—इस प्रकार प्रशंसा की गई है—

जो इच्छइ भवविरहं भवविरहं को न बंधए सुयणो।
समयसयसत्थगुरुणो समरमियंका[1] कहा जस्स ॥
डेकन कालेज संग्रहीत पुस्तक, पृ० २

(लिपिकर = लिखे हुए पुस्तककी नकल करनेवाला) की तरह मात्र नकल बनाने जैसी है। अपने गुरुभ्राता के ऐसे उपहासात्मक वचन सिद्धर्षि के दिल में चुभ गये और फिर उन्होंने अष्ट प्रस्ताव वाली सुप्रसिद्ध उपमितिभव-प्रपंचकथा की अपूर्व रचना की। इस सुबोध कथा के आह्लादक व्याख्यान को सुन कर जैन समाज (संघ) ने सिद्धर्षि को 'व्याख्याता' की मानप्रद पदवी समर्पित की। इत्यादि। [द्रष्टव्य प्रभावकचरित, निर्णयसागर, पृष्ठ २०१-२०२ श्लोक ८८-९७)

[डॉ. जेकोबी, प्रभावकचरित के इस वर्णन को बराबर समझ नहीं सके इस लिये उन्होंने 'कुवलयमालाकथा' को सिद्धर्षि की ही कृति समझ कर असम्बद्ध अर्थ लिख दिया है। (द्रष्टव्य जेकोबी की उपमितिभव० की प्रस्तावना, पृष्ठ १२, तथा परिशिष्ट, पृष्ठ १०५।)]

कुवलयमालाकथा की प्रशस्ति को देखने से मालूम पड़ता है कि प्रभावक-चरित के कर्त्ता का उपर्युक्त कथन बिल्कुल असत्य है। क्योंकि कुवलयमाला की रचना उपमितिभवप्रपंचा की रचना से १२७ वर्ष पूर्व हुई है, इसलिये दाक्षिण्यचन्द्र [चिह्न] का सिद्धर्षि के गुरुभ्राता होने का और उक्त रीतिसे उपहासात्मक वाक्योंके कहनेका कोई भी सम्बन्ध सत्य नहीं हो सकता।]
—डेकन कालेज संगृहीत पुस्तक, पृ० २।

१. हरिभद्रसूरि ने तो स्वयं अपने इस ग्रन्थ का नाम 'समराइच्चकहा' अथवा 'समराइच्चचरियं' [चरियं समराइच्चस्स, पृ० ५, पं० १२] लिखा है, परन्तु यहाँ पर 'समरमियंका' [पं० समरमृगाङ्का] ऐसा नाम उल्लिखित है; सो इस पाठभेद का कारण समझ में नहीं आता।

हरिभद्रसूरि ने प्रायः अपने सभी ग्रन्थों के अन्त में, किसी न किसी तरह अर्थ-सम्बन्ध घटा करके 'भवविरह' अथवा 'विरह' इस शब्द का प्रयोग अवश्य किया है। इसलिये वे 'विरहाङ्क' कवि या ग्रन्थकार कहे जाते हैं। इनके ग्रन्थों के सबसे पहले टीकाकार जिनेश्वरसूरि ने (वि. सं० १०८०) अष्टकप्रकरण की टीका में, अन्त में जहाँ पर 'विरह' शब्द आया है वहाँ पर, इस बारे में स्पष्ट लिखा भी है कि—

'विरह' शब्देन हरिभद्राचार्यकृतत्वं प्रकरणस्यावेदितम्, विरहाङ्कत्वाद् हरिभद्रसूरेरिति।'

ऐसा ही उल्लेख अभयदेवसूरि (पंचाशकप्रकरण की टीका में) और मुनिचन्द्रसूरि (ललितविस्तरापंजिका में) आदि ने भी किया है। इसी आशय से कुवलयमाला के कर्त्ता ने भी यहाँ पर श्लेष के रूप में 'भवविरह' शब्द का युगल प्रयोग कर हरिभद्रसूरि का स्मरण किया है। साथ में उनकी 'समराइच्चकहा' का भी उल्लेख है, इससे इस कुशङ्का के लिये तो यहाँ पर किञ्चित् भी अवकाश नहीं है कि इन हरिभद्र के सिवा और किसी ग्रन्थकार का इस उल्लेख में स्मरण हो।

इसी तरह, इस कथा की प्रशस्ति में भी हरिभद्रसूरि का उल्लेख मिलता है, जिसका विचार आगे चल कर किया जायगा। इससे स्पष्ट है कि हरिभद्र को, शक संवत् ७००, अर्थात् विक्रम संवत् ८३५, ई. सं. ७७८ से तो अर्वाचीन किसी तरह नही मान सकते।

—महाकवि धनपाल ने भी तिलकमञ्जरीकथा की पीठिका में इस ग्रन्थ-की निम्न प्रकार से प्रशंसा की है—

निरोद्धु पार्यते केन समरादित्यजन्मनः।
प्रशमस्य वशीभूतं समरादि त्यजन्मनः॥

इसी तरह देवचन्द्रसूरि ने 'सन्तिनाहचरियं' की प्रस्तावना में भी इस कथा-प्रबन्धका स्मरण किया है। यथा—

वंदे सिरिहरिभद्दं सूरिं विउसयणणिग्गयपयावं।
जेण य कहापबन्धो समराइच्चो विणिम्मविओ॥
[—पीटर्सन रिपोर्ट, ५, पृ० ७३]

इस प्रकार हरिभद्रसूरि सिद्धर्षि के समकालीन नहीं थे, इस बात का समाधान तो हो चुका है। अब यहाँ पर, यह दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि, जब हरिभद्र इस प्रकार सिद्धर्षि के समकालीन नहीं माने जा सकते, तब फिर पूर्वोक्त गाथा के कथानुसार उन्हें विक्रम की छठीं शता-दी में मान लेने में क्या आपत्ति है ? क्योंकि उस समय का बाधक मुख्य कर जो सिद्धर्षि का उल्लेख समझा जाता है वह तो उपर्युक्त रीति से निर्मूल सिद्ध होता है।

इस प्रश्न के समाधान के लिये विशेष गवेषणा की जरूरत होने से, जब हमने हरिभद्र के प्रसिद्ध सब उपलब्ध ग्रंथों का, इस दृष्टि से, ध्यानपूर्वक निरीक्षण किया, तो उनमें अनेक ऐसे स्पष्ट प्रमाण मिल आये कि जिनकी ऐतिहासिक पूर्वापरता का विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि 'गाथा' में बताये अनुसार हरिभद्र का स्वर्गगमन वि. सं० ५८५ में—एवं छठीं शताब्दी में उनका होना सत्य नहीं माना जा सकता।

जैसा कि हम प्रारम्भ ही में सूचित कर आये हैं हरिभद्रसूरि ने अपने दार्शनिक और तात्त्विक ग्रंथों में कितने एक ब्राह्मण, बौद्ध आदि दार्शनिक विद्वानों के —नामोल्लेख पूर्वक—विचारों और सिद्धान्तों की आलोचना-प्रत्यालोचना की है। इस कारण से उन-उन विद्वानों के सत्ता-समय का विचार करने से हरिभद्र के समय का भी ठीक-ठीक विचार और निर्णय किया जा सकता है। अतः अब हम इसी बात का विचार करना शुरू करते हैं।

हरिभद्रसूरि के ग्रंथों में मुख्य कर निम्नलिखित दार्शनिकों और शास्त्रकारों के नाम मिल जाते हैं[1] :—

ब्राह्मण—

अवधूताचार्य	आसुरि
ईश्वर कृष्ण	कुमारिल-मीमांसक

१. इन ग्रन्थकारोंके नामों के अलावा कितने ही सम्प्रदायों, सांप्रदायिकों और तैर्थिकों के उल्लेख भी इनके ग्रंथों में यत्र-तत्र मिलते हैं परन्तु उनके उल्लेखों से प्रकृत विचारमें कोई विशेष सहायता न मिलनेके कारण यहाँ पर वे नहीं दिये गये हैं।

पतञ्जलि-भाष्यकार	पतञ्जलि-योगाचार्य
पाणिनि-वैयाकरण	भगवद् गोपेन्द्र
भर्तृहरि-वैयाकरण	व्यास महर्षि
विन्ध्यवासी	शिवधर्मोत्तर
बौद्ध—	जैन—
कुक्काचार्य	अजितयशाः
दिवाकर (?)	उमास्वाति
दिङ्नागाचार्य	जिनदास महत्तर
धर्मपाल	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
धर्मकीर्ति	देववाचक
धर्मोत्तर	भद्रबाहु
भदन्तदिन्न	मल्लवादी
वसुबन्धु	समन्तभद्र
शान्तरक्षित	सिद्धसेन-दिवाकर
शुभगुप्त	संघदासगणि

[टिप्पणी—इन ग्रन्थकारों के अतिरिक्त, हरिभद्र के प्रबन्धों—ग्रन्थों में कितने ही जैन-अजैन ग्रन्थों के भी नाम मिलते हैं। इनमें का एक नाम खास उनके समय के विचार में भी विचारणीय है। आवश्यकसूत्र की शिष्यहिता नामक वृहद्वृत्तिमें, एक जगह, निर्देश्य-निर्देशक विषयक नाम निर्देश के विचार में, हरिभद्रसूरि ने, ५-६ ग्रन्थों के नाम लिखे हैं, जिनमें 'वासवदत्ता' और 'प्रियदर्शना'का भी नामनिर्देश है[1]। 'वासवदत्ता' सुबन्धु कविकी प्रसिद्ध

---

१. द्रष्टव्य आवश्यकसूत्रकी हरिभद्रीय वृत्ति, पृ. १०६, यथा—

'निर्देश्यवशाद् यथा-वासवदत्ता, प्रियदर्शनेति।'

—जिनभद्रगणि ने विशेषावश्यकभाष्य में इसी प्रसंग पर

'अहवा निद्दिठवसा वासवदत्ता-तरंगवइयाइं।'

ऐसा लिख कर वासवदत्ता और तरंगवती (जो गाथा सत्तसई के संग्राहक प्रसिद्ध महाराष्ट्रीय कवि नृपति सातवाहन या हाल के समकालीन जैनाचार्य पादलिप्त या पालित कवि की बनाई हुई है) का उल्लेख किया है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का समय छठीं शताब्दी है, इसलिये ७वीं शताब्दी में

आख्यायिका व कथा है। यद्यपि इसके समय के बारे में विद्वानों में कुछ मत-भेद है, परन्तु सामान्यरूप से छठीं शताब्दी में इस कवि का अस्तित्व बतलाया जाता है। 'प्रियदर्शना'[1] एक सुप्रसिद्ध नाटक है और वह थानेश्वर के चक्रवर्ती नृपति कवि हर्ष की बनाई हुई है। हर्ष का समय सर्वथा निश्चित है। ई. स. ६४८ में इस प्रतापी और विद्याविलासी नृपति की मृत्यु हुई थी। ई. स. की ७वीं शताब्दी का पूरा पूर्वार्द्ध हर्ष के पराक्रमी जीवन से व्याप्त था। हमारे एक वृद्धमित्र साक्षरवर श्री के. ह. ध्रुव ने प्रियदर्शना के गुजराती भाषान्तर की भूमिका में इसका रचना समय ई. स. ६१८ के लगभग अनुमानित किया है[2]। इससे प्रस्तुत विषय में, यह बात जानी जाती है कि प्रियदर्शना का नाम निर्देश करनेवाले हरिभद्रसूरि उसके रचना-समय बाद ही कभी हुए होंगे। प्राकृतगाथा में बतलाये मुताबिक हरिभद्र छठीं शताब्दी में नहीं हुए, ऐसा जो निर्णय हम करना चाहते हैं, उसमें यह भी एक प्रमाण है, इतनी बात ध्यानमें रख लेने लायक है।]

इस नामावली में के कितने नामों का तो अभी तक विद्वानों को शायद परिचय ही नहीं है कितने एक नाम विद्वत्समाज में परिचित तो हैं परन्तु उन नामधारी व्यक्तियों के अस्तित्व के बारे में पुराविद् पण्डितों में परस्पर सैकड़ों ही वर्षों जितना बड़ा मतभेद है। कोई किसी विद्वान् का अस्तित्व पहली शताब्दी बतलाता है, तो कोई

जन्म पानेवाली 'प्रियदर्शना' का नाम उनके उल्लेख में नहीं आ सकता, यह स्वतः सिद्ध है। जिनभद्र के इस प्रमाण से, वासवदत्ता के कर्ता सम्बन्ध का समय जो बहुत से विद्वान् छठीं शताब्दी बतलाते हैं और उसे बाण का पुरायायी मानते हैं, सो हमारे विचार से ठीक मालूम देता है।

१. वर्तमान में इस नाटिका की जितनी संस्कृत आवृत्तियाँ प्रकाशित हुई हैं उन सब में सबका नाम 'प्रियदर्शिका' ऐसा छपा हुआ है, परन्तु श्रीयुत् केशवलालजी ध्रुव ने, अपने गुजराती अनुवाद की प्रस्तावना में (द्रष्टव्य पृ. ७६, नोट.) यह सिद्ध किया है कि इसका मूल नाम 'प्रियदर्शिका' नहीं किन्तु 'प्रियदर्शना' होना चाहिए और अपनी पुस्तक में उन्होंने यही नाम छपवाया भी है। ध्रुव महाशय के इस आविष्कार का हरिभद्र के प्रकृत उल्लेख से प्रामाणिक समर्थन होता है।

२. द्रष्टव्य पृ. ७९ पहली आवृत्ति।

पांचवीं छठी शताब्दी बतलाता है। कोई किसी आचार्य को ई. स. के भी सौ-दो सौ वर्ष पहले हुए साबित करता है, तो कोई उन्हें ९ वीं-१० वीं शताब्दी से भी अर्वाचीन सिद्ध करता है। इस प्रकार ऊपर दी हुई नामावली में कितने ही विद्वानों के समय के विषय में विद्वानों का एकमत नहीं है। तथापि, देश और विदेश के विशेषज्ञ विद्वानों ने दीर्घपरिश्रमपूर्वक विस्तृत ऊहापोह करके, इस नामावली में के कई विद्वानों के समय का ठीक-ठीक निर्णय भी किया है और वह बहुमत से निर्णीत रूप से स्वीकृत भी हुआ है। इसलिये, इन विद्वानों के समय का विचार, हरिभद्र के समय-विचार में बड़ा उपयोगी होकर उसके द्वारा हम ठीक-ठीक जान सकेंगे कि हरिभद्र किस समय में हुए होने चाहिए।

ऊपर जो आचार्यनामावली दी है उसमें वैयाकरण भर्तृहरि का भी नाम सम्मिलित है। अनेकान्तजयपताका के चतुर्थ अधिकार में, शब्द ब्रह्म की मीमांसा करते हुए दो तीन स्थल पर हरिभद्र ने इनका नामोल्लेख किया है और इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ वाक्यपदीय में से कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं। यथा—

(१) आह च शब्दार्थतत्त्वविद् (भर्तृहरिः)—[1]

'वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥

---

१. अनेकान्तजयपताका पर हरिभद्र ने स्वयं एक संक्षिप्त परन्तु शब्दार्थ का परिस्फुट करने वाली टीका लिखी है। [इस टीका के अन्त में ऐसा उल्लेख है—'कृतिर्धर्मतो जा [या] किनीमहत्तरासूनोराचार्य-श्रीहरिभद्रस्य। टीकाप्येषाऽवचूर्णिका प्राया भावार्थमात्रावेदिनी नाम तस्यैवेति'] इस टीका में मूलग्रन्थ में जिन-जिन विद्वानों के विचारों का—'अवतरणों का संग्रह किया गया है उन सबके प्रायः नाम लिख दिये हैं। मूल ग्रन्थ में उन्होंने कहीं पर भी किसी के मुख्य नाम का उल्लेख न करके जिस शास्त्र का जो पारंगत ज्ञाता है उसके सूचक किसी विशेषण से अथवा और किसी प्रसिद्ध उपनाम से उस-उस विद्वान् का स्मरण किया है। फिर टीका में उन सबका स्पष्ट नामोल्लेख भी कर दिया है। कहीं पर मूल ग्रन्थ में 'उक्तं च' मात्र कहकर ही अन्योक्त अवतरण उद्धृत कर दिया

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन जायते ॥[1]

(२) उक्तं च (भर्तृहरिणा)—

'यथानुवाकः श्लोके वेति ।'[2]

(अनेकान्तजयपताका, (अहमदाबाद) पृष्ट ४१.)

चीन देश निवासी प्रसिद्ध प्रवासी इत्सिन[3] ई० स० की ७ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत में भ्रमण करने को आया था। उसने अपने देश में जाकर ई० स० ६९५ में अपना भ्रमण-वृत्तान्त लिखा। इसमें उसने, उस समय भारत वर्ष में व्याकरण शास्त्र का अध्ययन-अध्यापन जिस रीति से प्रचलित था उसका वर्णन लिखा है और साथ में मुख्य-मुख्य वैयाकरणों के नाम भी लिखे हैं। भर्तृहरि के विषय में भी उसने लिखा है कि 'ये एक प्रसिद्ध वैयाकरण थे और इन्होंने ७००

है और फिर टीका में उसी तरह नाम लिख दिया है। यही क्रम 'शास्त्रवार्ता-समुच्चय' की स्वोपज्ञ टीका में भी उपलब्ध होता है; इस क्रमानुसार ऊपर जो 'शब्दार्थतत्त्वविद्' विशेषण है उसका परिस्फुट टीका में 'शब्दार्थतत्त्वविद् भर्तृहरिः' ऐसा किया है। अर्थात् इससे शब्दार्थतत्त्वविद्' यह विशेषण भर्तृहरि का है, ऐसा समझना चाहिए। आगे पर जहाँ कहीं इन टीका में से ऐसे मुख्य नामों को उद्धृत करें वहाँ पर पाठक इस नोट को लक्ष्य में रक्खें।

१. काशी में मुद्रित वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड में ये दोनों श्लोक (पृष्ठ ४६-७) पूर्वापर के क्रम से अर्थात् आगे पीछे लिखे हुए मिलते हैं। पिछले श्लोक के चतुर्थ पाद में 'सर्वं शब्देन भासते' ऐसा पाठभेद भी उपलब्ध है। प्रसिद्ध दिगम्बर विद्वान् विद्यानन्दी ने 'अष्टसहस्री' [पृ. १३०] में और प्रभाचन्द्र ने 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' [पृ. ११] में भी इन दोनों श्लोकों को वाक्यपदीय के क्रम से उद्धृत किये हैं। वादी देवसूरि ने भी 'स्याद्वादरत्नाकर' (पृ. ४३) में इनको दिया है।

२. वाक्यपदीय, पृ. ८३ में यह पूरा श्लोक इस प्रकार है।

यथानुवाकः श्लोको वा सोढत्वमुपगच्छति ।
आवृत्त्या, न तु स ग्रन्थः प्रत्यावृत्या निरूप्यते ॥

३. द्रष्टव्य प्रो. मैक्समूलर लिखित India : what it can teach us ? पृष्ठ २१० ।

श्लोक की संख्यावाले वाक्यपदीय नामक ग्रंथ की रचना की है। वाक्यपदीय का जिक्र करके उस प्रवासी ने यह भी लिखा है कि इसके कर्ता की ई० स० ६५० में मृत्यु हो गई है। इत्सिन के इस उल्लेख के विरुद्ध में आज तक कोई विशेष प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ; इसलिये इसे सत्य मान लेने में कोई बाधा नहीं है।

महान् मीमांसक कुमारिल ने 'तंत्रवार्तिक' के प्रथम प्रकरण में शब्द शास्त्रियों की आलोचना है। उसमें पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि के साथ भर्तृहरि के ऊपर भी आक्षेप किये गये हैं। 'वाक्यपदीय' में से अनेक श्लोकों को उद्धृत कर उनकी तीक्ष्ण समालोचना की है। उदाहरण के लिये 'वाक्यपदीय' और 'तन्त्रवार्तिक' में से निम्नलिखित स्थल ले लिये जाँय।

वाक्यपदीय के (पृ० १३२) दूसरे प्रकरण में १२१ वां श्लोक इस प्रकार है :—

अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम्।
अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु ॥

कुमारिल भट्ट ने तन्त्रवार्तिक में इस श्लोक को दो जगह (बनारस की आवृत्ति पृ० २५१–२५४) उद्धृत किया है। यथा—

'यथाहुः—

'अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम्।
अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु ॥' इति।

यत्तु अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहुः।' इति, तत्राभिधीयते।

वाक्यपदीय के प्रथम प्रकरण में के ७ वें श्लोक का उत्तरार्द्ध, तंत्रवार्तिक (पृष्ठ २०९–१०) में कुमारिल ने उद्धृत किया है और उसमें शब्द परावर्तन कर भर्तृहरि के विचार का अवस्कन्दन किया है—

यदपि केनचिदुक्तम्—

तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते।' इति
तद्रूपरसगन्धस्पर्शेष्वपि वक्तव्यमासीत्।
को हि प्रत्यक्षगम्यार्थे शास्त्रातत्त्वावधारणम्।
शास्त्रलोकस्वभावज्ञ ईदृशं वक्तुमर्हति ?॥

अत एव श्लोकस्योत्तरार्द्धं वक्तव्यम्—

'तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति श्रोत्रेन्द्रियादृते ।'
त ह्यत्र कश्चिद्विप्रतिपद्यते बधिरेष्वेवमदृष्टत्वात् ।

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ प्रो० के० बी० पाठक ने अपने 'भर्तृहरि और कुमारिल'[1] नामक निबन्ध में इस पर लिखे गये प्रमाणाधार से निर्णीत किया है कि कुमारिल ई० स० की ८ वीं शताब्दी के पूर्व भाग में हुए होंगे। प्रो० पाठक लिखते हैं कि—"मेरे विचार से यह तो स्पष्ट है कि कुमारिल के समय में व्याकरण शास्त्र के ज्ञाताओं में भर्तृहरि भी एक विशिष्ट प्रमाणभूत विद्वान् माने जाते थे। भर्तृहरि अपने जीवन काल में तो इतने प्रसिद्ध हुए ही नहीं होंगे कि जिससे पाणिनि-संप्रदाय के अनुयायी, उन्हें अपने संप्रदाय का एक आप्त पुरुष समझने लगे हों और अतएव पाणिनि और पतंजलि के साथ वे भी महान् मीमांसक की समालोचना के निशान बने हों। इसी कारण से ह्वेन-सांग, जिसने ई० स० ६२९–६४५ के बीच भारत भ्रमण किया था, उसने इनका नाम तक नहीं लिखा, परंतु इत्सिन, जिसने उक्त समय से आधी शताब्दी बाद अपना प्रवास-वृत्त लिखा है, वह लिखता है कि भारत-वर्ष के पांचों खण्डों में भर्तृहरि एक प्रख्यात वैयाकरण के रूप में प्रसिद्ध हैं। इस विवेचन से हम ऐसा निर्णय कर सकते हैं कि जिस वर्ष तन्त्रवार्तिक की रचना हुई उसके और भर्तृहरि के मृत्यु वाले ई० स० ६५० के बीच में आधी शताब्दी बीत चुकी होगी। अतएव कुमारिल ई० स० की ८ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विद्यमान होने चाहिए।"

हरिभद्र ने अपने अनेक ग्रन्थों में मीमांसा-दर्शन की आलोचना-प्रत्यालोचना की है। शास्त्रवार्तासमुच्चय के १० वें प्रकरण में मीमांसक प्रतिपादित 'सर्वज्ञनिषेध' पर विचार किया गया है। उसमें पूर्व पक्ष में कुमारिल भट्ट के मीमांसा-श्लोकवार्तिक के—

'प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता[2] ।।'

---

१. जर्नल आव दि बाम्बे ब्रांच रायल एसियाटिक सोसायटी, जिल्द १८, पृ. २१३-२३८।

२. मीमांसा श्लोकवार्तिक, पृष्ठ ४७३।

इस श्लोक का, 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' (उक्त प्रकरण में के चतुर्थ श्लोक) के—

'प्रमाणपञ्चकाऽवृत्तेस्तत्राभाव प्रमाणता[1] ।'

इस श्लोकार्द्ध में केवल अर्थशः ही नहीं परंतु शब्दशः अनुकरण किया हुआ स्पष्ट दिखाई देता है ।

इसी तरह, मीमांसा-श्लोकवार्तिक के चोदना-सूत्र वाले प्रकरण में—जहाँ पर वेदों की स्वतः प्रमाणता स्थापित करने की मीमांसा की हुई है—निम्न लिखित श्लोकार्द्ध कुमारिल ने लिखा है :—

'तस्मादालोकवद् वेदे सर्वसाधारणे सति ।'

मीमांसा श्लोकवार्तिक, पृ० ७४ ।

इसी श्लोकार्द्ध को शास्त्रवार्तासमुच्चय के उक्त प्रकरण में हरिभद्र ने भी निम्नलिखित श्लोक में तद्वत्फक्त प्रारंभ के एक शब्द का परिवर्तन कर उद्धृत किया है । यथा—

आहचालोकवद्वेदे सर्वसाधारणे सति ।
धर्माधर्मपरिज्ञाता किमर्थं कल्प्यते नरः ।।[2]

और फिर इस श्लोक की स्वोपज्ञ-व्याख्या[3] में 'आह च कुमारिलादिः' इस प्रकार स्वयं ग्रंथकर्ता ने साथ में साक्षात् कुमारिल का नामोल्लेख भी कर दिया है ।

इस प्रमाण से यह ज्ञात हो गया कि हरिभद्र ने जैसे वैयाकरण भर्तृहरि की आलोचना की है वैसे ही भर्तृहरि के आलोचक मीमांसक कुमारिल की भी समालोचना की है ।

ऊपर लिखे मुताबिक प्रो० पाठक के निर्णयानुसार कुमारिल का समय जो ई० स० की ८ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध मान लिया जाय तो फिर हरिभद्र का समय भी वही मानना चाहिए । क्यों कि इस

---

१. शास्त्रवार्तासमुच्चय, (देवचंद ला. पुस्तकोद्धार फंड से मुद्रित) पृष्ठ ३४९ ।

२. शास्त्रवार्तासमुच्चय, पृ. ३५४.

३. अनेकान्तजयपताका की तरह इस ग्रन्थ पर भी हरिभद्र ने स्वयं एक संक्षिप्त व्याख्या लिखी है—जो उपलब्ध हैं ।

शताब्दी के उत्तरार्द्ध के मध्य-भाग में ई० स० ७७८ में—समाप्त होने वाली कुवलयमालाकथा में पूर्वोक्त उल्लेखानुसार स्पष्ट रूप से हरिभद्र का नाम स्मरण किया हुआ विद्यमान है। ऐसी दशा में उल्लिखित कुमारिल-समय और यह हरिभद्र-समय दोनों एक ही हो जाते हैं। अतएव इन दोनों आचार्यों को समकालीन मान लेने के सिवा दूसरा कोई मत दिखाई नहीं देता।

इस मत की पुष्टि में अन्य प्रमाण भी यथेष्ट उपलब्ध होते हैं, जो इस प्रकार है—

हरिभद्र के ग्रंथों में जिन-जिन बौद्ध विद्वानों के नाम मिलते हैं उनकी सूची ऊपर दी गई है। इन विद्वानों में से आचार्य वसुबन्धु और महामति दिङ्नाग तो प्राकृत गाथा में उल्लिखित हरिभद्र के मृत्यु-समय से निर्विवाद रीति से पूर्वकाल में ही हो चुके हैं, इस लिये उनके जिक्र का तो यहाँ पर कोई अपेक्षा नहीं है, परन्तु धर्मपाल, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर और शांतरक्षित आदि विद्वान् गाथोक्त हरिभद्र के मृत्यु समय से अर्वाचीन काल में हुए हैं; ऐसा ऐतिहासिकों का बहुमत है। इस लिये हरिभद्र का समय भी गाथोक्त समय से अवश्य अर्वाचीन मानना पड़ेगा। यहाँ पर हम हरिभद्र के ग्रंथों में से कुछ अवतरणों को उद्धृत कर देते हैं जिनमें धर्मपालादि बौद्ध विद्वानों का जिक्र पाया जाता है। फिर उनके समय का विचार करेंगे।

अनेकान्तजयपताका के चतुर्थ परिच्छेद में, जहाँ पर पदार्थों में अनेक धर्मों के अस्तित्व का स्थापन किया गया है, वहाँ पर एक प्रतिपक्षी बौद्ध के मुख से निम्नलिखित पंक्तियों का उच्चारण ग्रंथकार ने करवाया है—

'स्यादेतत्सिद्धसाधनम्, एतदुक्तमेव नः पूर्वाचार्यैःद्विविधा हि रूपादीनां शक्तिः—सामान्या प्रतिनियता च। तत्र सामान्या यथा घटसन्निवेशिनामुदकाद्याहरणादिकार्यकरणशक्तिः। प्रतिनियता यथा चक्षुर्विज्ञानादिकार्यकरणशक्तिरिति।'

(अनेकान्तजयपताका, अहमदाबाद, पृ० ५०)

इस अवतरण के पूर्व भाग में 'नः पूर्वाचार्यैः-' यह वाक्यांश है, इसकी स्फुट व्याख्या स्वयं ग्रंथकार ने इस प्रकार की है—

'नः—अस्माकंपूर्वाचार्यैः—धर्मपाल-धर्मकीर्त्यादिभिः।'

इससे स्पष्ट है कि उद्धृत अवतरण को हरिभद्र ने धर्मपाल और धर्मकीर्ति के विचारों का सूचक बतलाया है। धर्मपाल का स्पष्ट नामोल्लेख तो इसी एक जगह हमारे देखने में आया है, परन्तु धर्मकीर्ति का नाम तो पचासों जगह और भी लिखा हुआ दिखाई देता है। 'अनेकान्तजयपताका' ग्रंथ खास कर, भिन्न-भिन्न बौद्धाचार्यों ने अपने ग्रन्थों में जैन धर्म के अनेकान्तवाद का जो खण्डन किया था उसका समर्पक उत्तर देने के ही लिये रचा गया था। तार्किकचक्रचूडामणि आचार्य धर्मकीर्ति की प्रखर प्रतिभा और प्राञ्जल लेखनी ने भारत के तत्कालीन सभी दर्शनों के साथ जैन धर्म के ऊपर भी प्रचण्ड आक्रमण किया था। इस लिये हरिभद्र ने, जहाँ कहीं थोड़ा सा भी मौका मिल गया वहीं पर धर्मकीर्ति के भिन्न-भिन्न विचारों की सौम्यभावपूर्वक परंतु मर्मान्तक रीति से चिकित्सा कर जैन धर्म पर किये गये उनके आक्रमणों का सूद सहित बदला चुकवा लेने की सफल चेष्टा की है। हरिभद्र ने धर्मकीर्ति का विशेष कर 'न्यायवादी' के पाण्डित्यप्रदर्शक विशेषण से उल्लेख किया है और कहीं-कहीं पर उनके बनाए हुए 'हेतुबिन्दु' और 'वार्तिक' आदि ग्रंथों का भी नाम स्मरण किया है। यथा—

(१) उक्तं च धर्मकीर्तिना 'न तत्र किञ्चिद् भवति न भवत्येव केवल' मिति वार्तिके।

(अनेकां० यशोविजय, जैन ग्रंथ माला, पृ० ९०)

(२) आह च न्यायवादी (धर्मकीर्तिर्वार्तिके)—[1]

न प्रत्यक्षं कस्यचित् निश्चायकं, तद् यमपि गृह्णाति तन्न निश्चयेन, किं तर्हि ? तत्प्रतिभासेन। (पृ० १७७.)

यदाह न्यायवादी (धर्मकीर्तिर्वार्तिके)—

(३) 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिद्धयति।
प्रत्यात्मवेद्यः सर्वेषां विकल्पो नाम संश्रयः॥
संहृत्य सर्वतश्चिन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना।
स्थितोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षते साऽक्षजा मतिः॥
पुनर्विकल्पयन् किञ्चिदासीद् मे कल्पनेदृशी।
इति वेत्ति न पूर्वोक्तावस्थायामिन्द्रियाद् गतौ॥

इत्यादि, तदपाकृतमवसेयम्। (पृष्ठ २०७)।

---

१. कोश में लिखा हुआ पाठ टीका में उपलब्ध है।

(४) आह च न्यायवादी (धर्मकीर्तिः)—

अर्थानां यच्च सामान्यमन्यव्यावृत्तिलक्षणम् ।
यन्निष्ठास्त इमे शब्दा न रूपं तस्य किञ्चन ।।

(अनेकां० पृ० ३७)

(५) उक्तं च न्यायवादिना (धर्मकीर्तिना)—

पररूपं स्वरूपेण यया संवियते धिया ।
एकार्थप्रतिभासिन्या भावानाश्रित्य भेदिनः ।।
तया संवृतनानात्वाः संवृत्या भेदिनः स्वयम् ।
अभेदिन इवाभान्ति भावा रूपेण केनचित् ।।
तस्या अभिप्रायवशात्सामान्यं सत् प्रकीर्तितम् ।
तदसत् परमार्थेन यथा सङ्कल्पितं तया ।।

(वही प्रति पृ० ३९)

(६) तथा चोक्तम् (न्यायविदा वार्तिके)—

नीलपीतादियज्ज्ञानाद् बहिर्वदवभासते ।
तन्न सत्यमतो नास्ति विज्ञेयं तत्त्वतो बहिः ।।
तदपेक्षया(क्षा ?) च संवित्तेर्मता या कर्तृरूपता ।
साऽप्यतत्त्वमतः संविदद्वयेति विभाव्यते ।।

(वही प्रति पृ० ५४)

(७) एवं च यदाह न्यायवादी–(धर्मकीर्तिः) –

बीजादङ्कुरजन्माग्नेर्धूमात्सिद्धिरितीदृशी ।
बाह्यार्थाश्रयिणी यापि कारकज्ञापकस्थितिः ।।
सापि तद्रूपनिर्भासास्तथा नियतसङ्गमाः ।
बुद्धीराश्रित्य कल्प्येत यदि किंवा विरुद्ध्यते ।।
इत्यादि तदसांप्रतमिति दर्शितं भवति ।

(वही प्रति पृ० ५७)

(८) ग्राह्यग्राहकभावलक्षणएव तयोः प्रतिबन्ध इति चेत्, न, अस्य धर्मकीर्तिना–(भवत्तार्किकचूडामणिना)–अनङ्गीकृतत्वात् ।'

(वही प्रति पृ० ६०)

(९) यच्चोक्तमेतेन कारणानां भिन्नेभ्यः स्वभावेभ्यः कार्यस्य भिन्ना एव विशेषा इत्येतदपि प्रत्युक्तमिति । एतदप्ययुक्तं

कारणानां भिन्नेभ्यः स्वभावेभ्यः कार्यस्य तस्य तदविरोधात्, तदेकानेकस्वभावत्वात् तथोपलब्धेः, धर्मकीर्तिनाप्यभ्युपगमत्वात्, 'हेतुबिन्दौ' भिन्नस्वभावेभ्यश्चक्षुरादिभ्यः सहकारिभ्य एककार्योत्पत्तौ न कारणभेदात्कार्यभेदः स्यात्' इत्याशङ्क्य 'न यथास्वं स्वभावभेदेन तद्विशेषोपयोगतस्तदुपयोगकार्यस्वभाव विशेषासङ्करात्' इत्यादेः (ग्रंथात्) स्वयमेवाभिधानात्।
(वही प्रति, पृ० ६६)

आचार्य धर्मपाल और न्यायवादी धर्मकीर्ति इन दोनों में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध था और ये ई० स० की ७ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विद्य- थे। चीनी प्रवासी ह्वेनसांग जब ई० स० ६३५ में नालन्दा के विद्यापीठ में पहुँचा था तब उसे मालूम हुआ कि उसके आने के कुछ ही समय पहले, आचार्य धर्मपाल जो विद्यापीठ के अध्यक्ष पद पर नियुक्त थे, अब निवृत्त हो गये। ह्वेनसांग के समय धर्मपाल के शिष्य आचार्य शीलभद्र अपने गुरु के स्थान पर प्रतिष्ठित थे। उन्हीं के पास से उसने विद्यालाभ किया। इस वृत्तान्त से यह ज्ञात होता है कि धर्मपाल ई० स० ६०० से ६३५ के बीच विद्यमान थे।

महामति धर्मकीर्ति भी धर्मपाल के शिष्य थे इसलिये उनके बाद के २५ वर्ष धर्मकीर्ति के अस्तित्व के मानने चाहिए। अर्थात् ई. सं. ६३५ से ६५० तक वे विद्यमान होंगे। इस विचार की पुष्टि में दूसरा भी प्रमाण मिलता है। तिब्बतीय इतिहास लेखक तारानाथ ने लिखा है कि तिब्बत के राजा स्रोत्संगम्पो जो ई. स. ६१७ में जन्मा था और जिसने ६३९-९८ तक राज्य किया था, उसके समय में आचार्य धर्मकीर्ति तिब्बत में आये थे। इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि ह्वेनसांग जब नालंदा के विद्यापीठ में अभ्यास करता था तब धर्मकीर्ति बहुत छोटी उम्र के होंगे। इसलिये उसने अपने प्रवास-वृत्तांत में उनका नामोल्लेख नहीं किया। परन्तु ह्वेनसांग के बाद के चीनी यात्री इत्सिन—जिसने ई. सं. ६७१-६९५ तक भारत में भ्रमण किया था—अपने यात्रावर्णन में लिखा है कि दिङ्नागाचार्य के पीछे धर्मकीर्ति ने न्यायशास्त्र को खूब पल्लवित किया है। इससे जाना जाता है कि इत्सिन के समय में धर्मकीर्ति की प्रसिद्धि खूब हो चुकी थी। अतः इन

सब कथनों के मेल से धर्मकीर्ति का अस्तित्व उक्त समय में (ई. सं. ६३५-६५०) मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है।

प्रो० के० बी० पाठक ने अपने 'भर्तृहरि और कुमारिल' नामक निबन्ध में लिखा है कि—मीमांसाश्लोकवार्तिक के शून्यवाद-प्रकरण में कुमारिल ने बौद्धमत के 'आत्मा बुद्धि से भेदवाला दिखाई देता है' इस विचार का खण्डन किया है। श्लोकवार्तिक की व्याख्या में इस स्थान पर सुचरितमिश्र ने धर्मकीर्ति का निम्नलिखित श्लोक, जिसको शंकराचार्य और सुरेश्वराचार्य ने भी लिखा है, बारम्बार उद्धृत किया है।

अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः।
ग्राह्य-ग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते॥

इससे यह मालूम होता है कि कुमारिल ने दिङ्नाग और धर्मकीर्ति दोनों के विचारों की समालोचना की है। अतः यह सिद्ध होता है कि कुमारिल धर्मकीर्ति के बाद हुए। धर्मकीर्ति जब ईस्वी की ७वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में विद्यमान थे तब कुमारिल कम से कम उसी शताब्दी के अन्त में होने चाहिए। कुमारिल का नामोल्लेख, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, हरिभद्र ने किया है और हरिभद्र का नामस्मरण कुवलयमालाकथा के लिखने वाले दाक्षिण्यचिह्न ने। दाक्षिण्यचिह्न का समय ई. सं. की ८वीं शताब्दी का तृतीय भाग निश्चित है। अतः हरिभद्र का अस्तित्व उसके प्रथमार्ध में या मध्यम-भाग में मानना पड़ेगा। इस प्रकार भर्तृहरि और कुमारिल के कालक्रम से विचार किया जाय अथवा धर्मकीर्ति और कुमारिल के काल क्रम से विचार किया जाय—दोनों गणना से हरिभद्र का ८ वीं शताब्दी में ही—फिर चाहे उसके आरम्भ में या मध्य में—होना निश्चित होता है।

इसी तरह का, परंतु इनसे भी विशिष्ट एक और प्रमाण है। नन्दीसूत्र नामक जैन आगम ग्रंथ पर हरिभद्रसूरि ने ३३३६ श्लोक प्रमाण संस्कृत टीका लिखी है। इस टीका में, (जिस तरह आवश्यक-सूत्र की टीका में, आवश्यकचूर्णि में से शतशः प्राकृत पाठ उद्धृत किये हैं वैसे) उन्होंने बहुत सी जगह, इसी सूत्र पर जिनदासगणि महत्तर की बनाई हुई चूर्णि नामक प्राकृत भाषामय पुरातन व्याख्या में से

बड़े लंबे-लंबे अवतरण दिये हैं। जिनदासगणिमहत्तर ने नन्दीचूर्णि शक संवत् ५९८ (विक्रम संवत् ७३३=ई० स० ६७६) में समाप्त की थी। इस समय का उल्लेख, इस चूर्णि के अन्त में स्पष्ट रूप से इस प्रकार किया हुआ है :—

'शकराज्ञः पञ्चसु वर्षशतेषु व्यतिक्रान्तेषु अष्टनवतिषु नन्द्यध्ययन-चूर्णिः समाप्ता।[1]'

उदाहरण के लिये, हरिभद्रसूरि ने नन्दीचूर्णि में से जो पाठ अपनी टीका में उद्धृत किये हैं उनमें से एक-दो पाठ यहाँ पर दिया जा रहा है।

इस सूत्र के प्रारंभ में जो स्थविरावली प्रकरण है उसकी ३६ वीं गाथा की, जिसमें 'खंदिलायरिय' की प्रशंसा है, व्याख्या हरिभद्र ने इस प्रकार लिखी है—

मूल गाथा—

'जेसि इमो अणुओगो पयरइ अज्जावि अड्ढभरहम्मि।
बहुनयरनिग्गयजसे ते वंदे खंदिलायरिए॥'

व्याख्या—येषांमनुयोगः प्रचरति, अद्यापि अर्धभरते वैताढ्यादारतः। बहुनगरेषु निर्गतं प्रसृतं प्रसिद्धं यशो येषां ते बहुनगरनिर्गतयशसः, तान् वन्दे। सिङ्घ (सिंह) वाचकशिष्यान् स्कन्दिलाचार्यान्। 'कहं' पुण तेसि अणुओगो? उच्यते—बारससंवच्छरिए महंते दुब्भिक्खे काले भत्तट्ठा अण्णण्णतो हिंडियाणं गहणगुणणणुप्पेहाभावाओ विप्पणट्ठे सुत्ते, पुणो सुब्भिक्खे काले जाए महुराए महंते साधुसमुदए खंदिलायरियप्पमुहसंघेण जो जं संभरइ त्ति एवं संघडियं कालियसुयं। जम्हा एयं महुराए कयं तम्हा माहुरी वायणा भण्णइ। सा य खंदिलायरिय-

---

१. नन्दीसूत्रचूर्णि, डेकन कालेज पुस्तक संग्रह नं० ११९७, सन् १८८४—८७. चार—पांच सौ वर्ष पहले के किसी एक जैन विद्वान् ने 'बृहट्टिप्पणिका' नाम की संस्कृत में एक जैनग्रन्थसूची बनाई है जिसमें भी, इस चूर्णि का रचना-काल वि. सं. ७३३ [अर्थात् शक संवत् ५९८] लिखा हुआ है। यथा—'नन्दीसूत्रं ७०० [श्लोक प्रमाणं] चूर्णि ७३३ वर्षे कृता। स्तंभ० विना नास्ति।'

सम्मत त्ति काउं तस्संतिओ अणुओगो भण्णइ। अन्ने भणंति जहा, सुयं ण णट्ठं। तम्मि दुब्भिक्खे काले जे अन्ने पहाणा अणुओगधरा ते विणट्ठा। एगे खंदिलायरिए संधिरें (?), तेण महुराए पुणो अणुओगो पवत्तिओ त्ति माहुरी वायणा भण्णइ। तस्संतिओ अ अणुओगो भण्णइ।'

(नन्दी टीका, डेक० पु० पृ० १३)

इस अवतरण में जितना प्राकृत पाठ है वह सारा हरिभद्रसूरि ने चूर्णि में से ही लिया है। क्योंकि चूर्णि में अक्षरशः यही पाठ विद्यमान है। (द्रष्टव्य—डेकन कालेज में संगृहीत, नन्दीचूर्णि की हस्त-लिखित प्रति पुस्तक नं० १११७, सन् १८८४–८७ पृष्ठ ४.)

नन्दीसूत्र की बृहद्टीका में, आचाराङ्गसूत्र विषयक व्याख्यान में, मलयगिरि सूरि ने 'तथा चाह चूर्णिकृत्' लिख कर निम्नलिखित पाठ, नन्दीचूर्णि से उद्धृत किया है—

'दो सुयक्खंधा पणवीसं अज्झयणाणि एयं आयारग्गसहियस्स पमाणं भणियं, अट्ठारसपयसहस्सा पुण पढमसुयक्खंधस्स नवबंभचे-रमइयस्स पमाणं, विचित्तअत्थनिबद्धाणि य सुत्ताणि, गुरूवएसओ तेसिं अत्थो जाणियव्वो त्ति।'

नन्दी टीका, (मुद्रित पृ० २११)

यही पाठ हरिभद्रसूरि ने भी अपनी टीका में अविकल रूप से उद्धृत किया है। (द्रष्टव्य डे० पु० पृ० ७६)। ऐसे ही और भी कई जगह इस प्रकार के पाठ उद्धृत हैं। इससे यह बात निश्चित हुई कि हरिभद्रसूरि, शक संवत् ५९८ (वि० सं० ७३३=ई० स० ६७६) से बाद में ही किसी समय में हुए हैं। गाथा के अनुसार विक्रम संवत् ५८५ में अथवा, दूसरे उल्लेखों में लिखे अनुसार वीर सं० १०५२ में नहीं हुए। चूर्णि के बाद बने कम से कम ५० वर्ष पश्चात् ही हरिभद्र की अपनी टीका लिखी होनी चाहिए और इसलिये इस तथ्य से भी उनका समय वहीं ईस्वी की ८ वीं शताब्दी निश्चित होता है।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रमाणों से यह तो सिद्ध है कि हरिभद्र-सूरि प्राकृत गाथा आदि के लेखानुसार, विक्रम की छठीं शताब्दी में नहीं अपितु आठवीं शताब्दी में हुए हैं, परंतु इससे यह निश्चित

नहीं हुआ कि, इस शताब्दी के कौन से भाग में—कब से कब तक—वे विद्यमान थे ? कुवलयमालाकथा के अन्तिम (प्रशस्ति) लेख का ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने से इस प्रश्न का भी यथार्थ समाधान हो जाता है।

जैन इतिहास के रसिक अभ्यासियों को यह सुनकर आनंद के साथ आश्चर्य होगा कि कुवलयमालाकथा के कर्ता उद्योतनसूरि अपरनाम दाक्षिण्यचिह्न खुद हरिभद्र के एक प्रकार से साक्षात् शिष्य थे ! इस कथा की प्रशस्ति का वह महत्त्व का भाग, जिसमें कर्ता ने स्वकीय गुरु परंपरा आदि का परिचय दिया है, कुछ विस्तृत होने पर भी उसे यहाँ पर उद्धृत कर देने के लोभ का हम संवरण नहीं कर सकते। प्रशस्ति इस प्रकार है—

अत्थि पयडा पुरीणं पव्वइया नाम रयणसोहिल्ला।
तत्थट्ठिएण भुत्ता पुहई सिरितोरसाणेण ॥
तस्स गुरू हरियत्तो आयरिओ आसि गुत्तवंसीओ।
तीए नयरीए दिन्नो जिणनिवेसो तहिं काले ॥
[तस्स] बहुकलाकुसलो सिद्धन्तवियाणओ कई दक्खो।
आयरियदेवगुत्तो अज्जवि विज्जरए कित्ती (?) ॥
सिवचन्दगणी अह मयहरो त्ति सो एत्थ आगओ देसा।
सिरिभिल्लमालनयरम्मि संठिओ कप्परुक्खो व्व ॥
तस्स खमासमणगुणो नामेणं जक्खदत्तगणिनामो।
सिस्सो महइमहप्पा आसि तिलोए वि पयडजसो ॥५॥
तस्स य सीसा बहुया तवचीरियलद्धचरणसंपण्णा।
रम्मो गुज्जरदेसो जेहिं कओ देवहरएहिं ॥
आगासवप्पनयरे वडेसरो आसि जो खमासमणो।
तस्स मुहदंसणे च्चिय अवि पसमइ जो अहव्वोवि ॥
तस्स य आयारधरो तत्तायरिओ त्ति नाम मारगुणो।
आसि तवतेयनिज्जियपावतमोहो दिणयरो व्व ॥
जो दूसमसलिलपवाहवेगहीरन्तगुणसहस्साण।
सीलंगविउलसालो लग्गणखंभो व्व निक्कंपो ॥
सीसेण तस्स एसा हिरिदेवीदिन्नदंसणमणेण।
रइया कुवलयमाला विलसिरदविखन्नइंधेण ॥१०॥

दिन्नजहिच्छयफलओ बहुकित्तीकुसुमरेहिराभोओ ।
आयरियवीरभद्दो अवा (हा) वरो कप्परुक्खो व्व ।।
सो सिद्धन्त(म्मि)गुरू, पमाण नाएण (अ)जस्स हरिभद्दो ।
बहुगन्थसत्थवित्थरपयड (समत्तसुअ) सच्चत्थो ।।
राया (य) खत्तियाणं वंसे जाओ वडेसरो नाम ।
तस्सुज्जोयणनामो तणओ अह विरइया तेण ।।

इन गाथाओं में से, प्रथम की १० गाथाओं में कथाकर्ता ने अपनी मूल गुरु परंपरा का वर्णन दिया है जिसका तात्पर्य यह हैं :—पहले हरिदत्त नाम के एक गुप्तवंशीय आचार्य हुए। वे पव्वइया पुरी के तोरसाण नामक राजा के गुरु थे और उनके उपदेश से उस नगरी में, उस राजा ने एक जिन मंदिर बनवाया था। उनके शिष्य देवगुप्त हुए, जो सिद्धान्तों के ज्ञाता और कुशल कवि थे। उनकी कीर्ति आज भी जगत् में फैल रही है। उनके बाद शिवचन्द्रगणी महत्तर नाम के आचार्य हुए। उन्होंने देश से (पव्वइया नगरी वाले प्रदेश में से ?) आकर भिल्लमाल (जिसे श्रीमाल भी कहते हैं) नगर में निवास किया। उनके यक्षदत्तगणी क्षमाश्रमण नामक गुणधारक प्रसिद्ध शिष्य हुए जिनके अनेक शिष्यों ने गुजरात देश में देव मंदिर (जिन मंदिर) बनवा कर उसकी शोभा बढ़ाई। इनके शिष्य आगासवप्प नगर में रहने वाले वडेसर नामक क्षमाश्रमण हुए जिनके मुख का दर्शन करके अभव्य जीव भी प्रशान्त हो जाता था। वडेसर के तत्तायरिय नामक बड़े तपस्वी और आचार-धारक शिष्य हुए। इन्हीं तत्तायरिय के शिष्य दाक्षिण्यचिह्न हुए, जिन्होंने ह्रीदेवी के दर्शन से प्रसन्न होकर इस कुवलयमालाकथा की रचना की।

इस प्रकार इन गाथाओं में, अपनी मूल पूर्व गुरु परंपरा का वर्णन करके कथाकार ने फिर अनन्तर की ३ (११–१३) गाथाओं में अपने विशिष्ट उपकारी गुरुओं—पूज्यों का सविशेष उल्लेख कर, उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की है। इस गाथा-कुलक का अर्थ इस प्रकार है–

'इच्छित फल देने वाले और कीर्ति रूप कुसुमों से अलंकृत होने के कारण नवीन कल्पवृक्ष के समान दिखाई देने वाले आचार्य वीरभद्र तो जिसके सिद्धान्तों के पढ़ाने वाले गुरु हैं और जिन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना कर समस्त श्रुत (आगमों) का सत्यार्थ प्रकट किया है वे

आचार्य हरिभद्र जिसके प्रमाण और न्यायशास्त्र के सिखाने वाले गुरु हैं तथा क्षत्रिय वंशोत्पन्न वडेसर नामक राजा का जो पुत्र है और उद्योतन जिसका मूल नाम है उसने यह कथा निर्मित की है।'

इस गाथा कुलक में हरिभद्रसूरि के लिये 'बहुग्रन्थ प्रणेतृत्व' और 'प्रमाण न्यायशास्त्र विषयक गुरुत्व' के विशेषण जो साभिप्राय प्रयुक्त किये गये हैं उनसे विचारवान् विद्वान् स्पष्ट जान सकते हैं कि कथा-कर्ता यहाँ पर जिस हरिभद्र का स्मरण करते हैं, वे वही हरिभद्रसूरि हैं जिनको लक्ष्य कर प्रस्तुत निबन्ध का लिखने का श्रम किया गया है। क्योंकि इनके अतिरिक्त 'अनेक ग्रन्थों की रचना कर समस्त श्रुत का सत्यार्थ प्रकट करने वाले' दूसरे कोई हरिभद्र जैन साहित्य या जैन इतिहास में उपलब्ध नहीं होते।

अतः इससे यह अंतिम निर्णय हो जाता है कि महान् तत्त्वज्ञ आचार्य हरिभद्र और कुवलयमालाकथा के कर्ता उद्योतनसूरि उर्फ दाक्षिण्यचिह्न दोनों (कुछ समय तक तो अवश्य ही) समकालीन थे। इतनी विशाल ग्रन्थ राशि लिखने वाले महापुरुष की कम से कम ६०-७० वर्ष जितनी आयु तो अवश्य होगी। इस लिए लगभग ईस्वी की ८ वीं शताब्दी के प्रथम दशक में हरिभद्र का जन्म और अष्टम दशक में मृत्यु मान लिया जाय तो वह कोई असंगत प्रतीत नहीं होता। इसलिये, हम ई० सन् ७०० से ७७० (विक्रम सं० ७५७ से ८२७) तक हरिभद्रसूरि का सत्ता-समय स्थिर करते हैं।

परिशिष्ट : १

हरिभद्र और शान्तिरक्षित

शास्त्रवार्तासमुच्चय के चतुर्थ स्तवक के निम्नलिखित श्लोक में हरिभद्र ने बौद्ध पण्डित शान्तिरक्षित के एक विचार का प्रतिक्षेप किया है। यथा—

एतेनैतत्प्रतिक्षिप्तं यदुक्तं सूक्ष्मबुद्धिना।
'नासतो भावकर्तृत्वं तदवस्थान्तरं न सः' ॥[1]

इस श्लोक की स्वोपज्ञ टीका में 'सूक्ष्मबुद्धिना—शान्तिरक्षितेन' ऐसा निर्देश कर स्पष्ट रूप से शान्तिरक्षित का नामोल्लेख किया है। डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने अपनी 'मध्यकालीन भारतीय न्याय-शास्त्र का इतिहास' नामक पुस्तक में (पृ० १२४) आचार्य शान्ति(न्त) रक्षित का समय ई० स० ७४९ के आसपास स्थिर किया है। इन शान्तिरक्षित ने, हरिभद्र के शास्त्रवार्तासमुच्चय के समान दार्शनिक विषयों की आलोचना करने वाला 'तत्त्व-संग्रह' नामक एक प्रौढ़ ग्रन्थ बनाया है। इस ग्रन्थ पर पञ्जिका नाम की एक टीका भी उन्हीं के समकालीन नालन्दा विद्यापीठ के तर्कशास्त्राध्यापक आचार्य कमल शील ने उसी समय में लिखी है। इस सटीक ग्रंथ का प्राचीन हस्तलेख गुजरात की पुरातन राजधानी पाटन के प्रसिद्ध जैन पुस्तकभांडागार में सुरक्षित है।[2] प्रस्तुत निबन्ध लिखने के समय यह ग्रन्थ सम्मुख न होने से तो हम यह नहीं कह सकते कि हरिभद्र ने जो शान्तिरक्षित का उल्लिखित श्लोकार्द्ध उद्धृत किया है वह इसी तत्त्वसंग्रह का है या अन्य किसी दूसरे ग्रन्थ का। परंतु इतना तो हमें विश्वास होता है कि यह श्लोकार्द्ध इन्हीं शान्तिरक्षित की किसी कृति में से होना चाहिए। ऐसी स्थिति में डॉ० सतीशचन्द्र का लिखा हुआ शान्ति-

१. द्रष्टव्य शास्त्रवार्तासमुच्चय, [दे. ला. पु. मुद्रित.] पृ. १४०

२. इस ग्रन्थ भंडार का सूचीपत्र गायकवाड़ ओरिएण्टल इंस्टिट्यूट से प्रकाशित हो चुका है। संपा०

रक्षित का समय यदि ठीक है तो हरिभद्र और शान्तिरक्षित दोनों समकालीन सिद्ध होते हैं।

कुछ विद्वान् ऐसे समकालीन पुरुषों को लक्ष्य कर ऐसी शंका किया करते हैं कि – उस पुरातनसमय में आधुनिक काल की तरह मुद्रण यंत्र, समाचारपत्र और रेलवे आदि अतिशीघ्रगामी वाहनों वगैरह जैसे साधन नहीं थे कि जिनके द्वारा कोई व्यक्ति तथा उसका लेख या विचार तत्काल सारे देश में परिचित हो जाय। उस समय के लिये किसी विद्वान् का अथवा उसके बनाये हुए ग्रन्थ का अन्यान्य विद्वानों को परिचय मिलने में कुछ न कुछ कालावधि अवश्य अपेक्षित होती थी। इस विचार से, यदि शान्तिरक्षित उक्तरीत्या ठीक हरिभद्र के समकालीन ही थे तो फिर हरिभद्र द्वारा उनके ग्रंथोक्त विचारों का प्रतिक्षेप किया जाना कैसे संभव माना जा सकता है ? इस विषय में हमारा अभिप्राय यह है कि—यह कोई नियम नहीं है, कि, उस समय में समकालीन विद्वानों का दूसरे संप्रदाय वालों से तुरन्त परिचय हो ही नहीं सकता था। यह बात अवश्य है कि आजकल जैसे कोई व्यक्ति या विचार चार-छह महीने ही में मुद्रालयों और समाचारपत्रों द्वारा सर्वविश्रुत हो जाता है, उतनी शीघ्रता के साथ उस समय में नहीं हो पाता था। परंतु ५-१० वर्ष जितनी कालावधि में तो उस समय में भी उत्तम विद्वान् यथेष्ट प्रसिद्धि प्राप्त कर सकता था। इसका कारण यह है कि उस समय जब कोई ऐसा असाधारण पण्डित तैयार होता था तो फिर वह अपने पाण्डित्य का परिचय देने के लिये और दिग्विजय करने के निमित्त देश-देशान्तरों में परिभ्रमण करता था और इस तरह अनेक राज्यसभाओं में और पण्डित-परिषदों में उपस्थित हो कर वहाँ के अन्यान्य विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ या वाद-विवाद किया करता था। इसी तरह जब कोई विद्वान् किसी विषय का कोई खास नवीन और अपूर्व ग्रंथ लिखता था तो उसकी अनेक प्रतियाँ लिखवा कर प्रसिद्ध शास्त्र-भण्डारों, मन्दिरों और धर्मस्थानों तथा स्वतंत्र विद्वानों के पास भेंट रूप से या अवलोकनार्थ भेजा करता था। इसलिये प्रख्यात विद्वान् को अपने जीवन काल ही में यथेष्ट प्रसिद्धि प्राप्त कर लेने में और उसके बनाये हुए ग्रंथों का, दूसरों द्वारा आलोचन-प्रत्यालोचन किये जाने में कोई आपत्ति नहीं है।

२

हरिभद्र और धर्मोत्तर

दिङ्नागाचार्य रचित न्यायप्रवेश प्रकरण' पर हरिभद्र ने शिष्यहिता नाम की एक संक्षिप्त और स्फुट व्याख्या लिखी है।[1] इस व्याख्या के प्रारम्भ में जहां 'अनुमान' शब्द की व्युत्पत्ति और उसका लक्षण लिखा है वहां एक उल्लेख विशेष उल्लेखनीय है जो इस प्रकार है :—

मीयतेऽनेनेति मानं परिच्छिद्यत इत्यर्थः। अनुशब्दः पश्चादर्थे, पश्चान्मानमनुमानम्। पक्षधर्मग्रहणसम्बन्धस्मरणपूर्वकमित्यर्थः। वक्ष्यति च 'त्रिरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिनि [ज्ञान] मनुमानम्।'

इस अवतरण के अन्त में जो 'वक्ष्यति' क्रिया लिख कर 'त्रिरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानम्' यह सूत्र लिखा है उस पर किसी एक पुरातन पण्डित ने निम्नलिखित टिप्पणी लिखी है :—

नन्वेतत्सूत्रं धर्मोत्तरीयं न तु प्रकृतशास्त्रसत्कम्। एतच्छास्त्रसत्कमेतत्सूत्रम्—'लिङ्गं पुनरित्यादि।' तत्कथं 'वक्ष्यति च' इति प्रोच्यते? सत्यमेतत्। यद्यप्यत्रैवं विधं सूत्रं नास्ति तथा [पि] धर्मोत्तरीयसूत्रमप्यत्र सूत्रोक्तानुमानलक्षणाभिधायिकमेवेत्यर्थतोऽत्रत्यधर्मोत्तरीयसूत्रयोः साम्यमेवेत्यर्थापेक्षया 'वक्ष्यति' इति व्याख्येयमिति न विरोधः।[2]

---

२. यह व्याख्या सेंटपीटर्सबर्ग [अब, पेट्रोग्राड] से प्रकट होनेवाली Bibliotheca Buddhica में प्रकाशित है। इसके बारे में विशेष वृत्तान्त जानने के लिये 'जैनशासन' नामक पत्र के दीपावली के खास अंक में छपा हुआ डा. मिरोनौ का Dignaga's Nyayapravesa and Haribhadra's Commntary on it नामक निबन्ध देखना चाहिए।

२. डेकन कालेज के पुस्तकालय की हस्तलिखित प्रति, नं. ७३८, १८७५-७६, पृ. २.

इस टिप्पणी का आशय यह है कि व्याख्याकार ने जो ऊपर के अवतरण में 'त्रिरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानम्' यह सूत्र लिखा है उसके स्थान में लिङ्गपुनास्त्रिरूपम्' यह सूत्र लिखना चाहिए। क्योंकि वह सूत्र तो आचार्य धर्मोत्तर का बनाया हुआ है; दिङ्नाग का नहीं, दिङ्नाग का तो यही पिछला सूत्र है। ऐसी स्थिति में यहां पर जो धर्मोत्तरीयसूत्र लिखा गया है उसका समाधान यों कर लेना चाहिए कि धर्मोत्तर का सूत्र भी प्राकृत सूत्रानुरूप ही अनुमान का लक्षण प्रदर्शित करता है, इसलिये इन दोनों में परस्पर अर्थसाम्य होने से हरिभद्र ने जो (कदाचित् विस्मृति के कारण ?) धर्मोत्तर का सूत्र लिख दिया है तो उसमें कोई ऐसा विशेष विरोध नहीं दिखाई देता।

टिप्पणीकार के इस समाधान से न्यायशास्त्र के अभ्यासियों का तो समाधान हो जायगा परन्तु इतिहास के अभ्यासियों का नहीं। ऐतिहासिकों के लिये तो इससे एक नया ही प्रश्न उठ खड़ा होता है। टिप्पणी लेखक के कथनानुसार यदि 'त्रिरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानं' यह सूत्र धर्मोत्तर के बनाये हुए किसी ग्रन्थ का है तो यहां पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह धर्मोत्तर कौन और कब हुए। धर्मकीर्ति के बनाये हुए न्यायबिन्दु नामक ग्रन्थ पर टीका लिखने वाले धर्मोत्तर का नाम विद्वानों में प्रसिद्ध है। प्रमाणपरीक्षा, अपोहप्रकरण, परलोकसिद्धि, क्षणभंगसिद्धि और प्रमाण ? विनिश्चय व्याख्या आदि ग्रन्थ भी उनके बनाये हुए कहे जाते हैं। सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने अपने पूर्वोक्त इतिहास (पृ० १३१) में इन धर्मोत्तर का समय ई. सन् ८४७ के आसपास स्थिर किया है। यदि यह समय ठीक है तो फिर हरिभद्र द्वारा लिखित उक्त सूत्र के रचयिता धर्मोत्तर, इन प्रसिद्ध धर्मोत्तर से भिन्न-कोई दूसरे ही प्राचीन धर्मोत्तर होने चाहिए क्योंकि हरिभद्र का देहविलय ई० सन् की आठवीं शताब्दी के तीसरे पाद में हो चुका होगा यह सप्रमाण सिद्ध किया जा चुका है।

बौद्ध मत में धर्मोत्तर नाम से प्रसिद्ध दो आचार्य हो गये हैं ऐसा प्रमाण महान् जैन तार्किक विद्वान् वादी देवसूरि के स्याद्वादरत्नाकर नामक प्रतिष्ठित तर्कग्रन्थ में मिलता है। इस ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद के 'स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्' इस दूसरे सूत्र की व्याख्या में

'लक्ष्यलक्षणभाववाचक' शब्दों के विधानाविधान की मीमांसा करते हुए शुरू में ही धर्मोत्तर के तद्विषयक विचारों की आलोचना की है। ग्रंथकर्त्ता ने स्वयं इन धर्मोत्तर को, धर्मकीर्ति के 'न्यायविनिश्चय' और 'न्यायविन्दु' नामक प्रमाण ग्रन्थों के व्याख्याता बतलाये हैं और उनकी की हुई उन व्याख्याओं में से कुछ अवतरण भी उद्धृत किये हैं। फिर इन धर्मोत्तर को 'वृद्धधर्मोत्तरानुसारी' (वृद्ध धर्मोत्तर के विचारों का अनुसरण करने वाले) तथा 'वृद्धसेवाप्रसिद्ध' (वृद्ध [धर्मोत्तर] की सेवा करने से प्रसिद्धि पाने वाले) ऐसे विशेषणों से सम्बोधित कर इन्हें किसी वृद्ध धर्मोत्तर के अनुयायी बतलाये हैं और अन्त में इनके विचार-विधान से उन वृद्ध धर्मोत्तर के तद्विषयक विचारों का खंडित होना बतला कर, इनके कथन को स्वमत विरोधी सिद्ध किया गया है। वादी देवसूरि के तद्विषयक सब लेखांश इस प्रकार हैं :—

(१) अत्राह धर्मोत्तरः—लक्ष्यलक्षणभावविधानवाक्ये लक्ष्ममनूद्य लक्षणमेव विधीयते। लक्ष्यं हि प्रसिद्धं भवति ततस्तदनुवाद्यम्, लक्षणं पुनरप्रसिद्धमिति तद्विधेयम्। अज्ञातज्ञापनं विधिरित्यभिधानात्। सिद्धे तु लक्ष्यलक्षणभावे लक्षणमनूद्य लक्ष्यमेव विधीयते इति।

(स्याद्वादरत्नाकर पृ० १०)

(२) साधो! सौगत! भूभर्तुर्धर्मकीर्तेर्निकेतने।
व्यवस्थां कुरुषे नूनमस्थापितमहत्तमः॥

स हि महात्मा (धर्मकीर्तिः) विनिश्चये (न्यायविनिश्चये) प्रत्यक्षमेकं, न्यायबिन्दौ तु प्रत्यक्षानुमाने द्वे अप्यप्रसाध्यैव तल्लक्षणानि प्रणयति स्म। किञ्च शब्दानित्यत्वसिद्धये कृतकत्वमसिद्धमपि सर्वमुपन्यस्य पश्चात् तत्सिद्धिमभिदधानोऽपि न लक्षणस्य तामनुमन्यसे इति स्वाभिमानमात्रम्। अपि च प्रत्यक्षलक्षणव्याख्यालक्षणे 'लक्ष्यलक्षणभावविधानवाक्ये' इत्यादिना लक्षणस्यैव विधिमभिधित्से विधेरेवापराधान्न बुद्धेः, यतो न्यायविनिश्चयटीकायां स्वार्थानुमानस्य लक्षणे 'तत्कथं त्रिरूपलिङ्गग्राहिण एव दर्शनस्य नानुमानत्वप्रसङ्गः' इति पर्यनुयुञ्जान 'एतदेव सामर्थ्यप्राप्तं दर्शयति यदनुमेयेऽर्थे ज्ञानं तत्स्वार्थमिति' इत्यनुमन्यमानश्चानुमापयसि स्वयमेव लक्ष्यस्यापि विधिम्। स्पष्टमेवाभिदधासि च न्यायबिन्दुवृत्तौ एतस्यैव लक्षणे, 'तिरूपाच्च लिङ्गाद्यदनुमेयालम्बनं ज्ञानं तत्स्वार्थमनुमानमिति।' (द्रष्टव्य, न्याय

'बिन्दुटीका, पीटर्सन द्वारा सम्पादित, पृ० २१) विनिश्चयटीकामेव च परार्थानुमानलक्षणे 'त्रिरूपस्य लिङ्गस्य यदाख्यानं तत्परार्थमनुमान मिति ।' च व्याचक्षाण इत्यक्षुण्णं ते वैचक्षण्यमिति ।

(स्याद्वादरत्नाकर, पृ० १०)

(३) अपि च भवद्भूवनसूत्रणासूत्रधारो धर्मकीर्तिरपि 'न्याय विनिश्चयस्याद्य–द्वितीय–तृतीय–परिच्छेदेषु–'प्रत्यक्षं' कल्पनापोढम-भ्रान्तमिति ।। १ ।।'

'तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गतोऽर्थदृगिति ।। २ ।।'

'परार्थमनुमानं तु स्वदृष्टार्थप्रकाशनमिति ।। ३ ।।'

त्रीणि लक्षणानि; 'त्रिमिराशुभ्रमणनौयानसङ्क्षोभाद्यनाहित-विभ्रममविकल्पकं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति ।।१।।' त्रिलक्षणालिङ्गाद्यदनुमेयेऽर्थे ज्ञानं तत्स्वार्थमनुमानमिति ।। २ ।।' 'यथैव हि स्वयं त्रिरूपालिङ्गतो लिङ्गिनि ज्ञानमुत्पन्नं तथैव परत्र लिङ्गिज्ञानोत्पिपादयिषता त्रिरूप-लिङ्गाख्यानं परार्थमनुमानमिति ।३।' च व्याचक्षाणो लक्ष्यस्यैव विधिमकीर्तयत्, तथा 'लक्ष्यलक्षणभावविधानवाक्ये' इत्युपक्रम्य लक्षण-मेव विधीयत इत्यभिदधानः कथं न स्ववचनविरोधमवबुध्यसे ।

(स्याद्वादरत्नाकर, पृ. ११.)

(४) बलदेववलं स्वीयं दर्शयन्ननिदर्शनम् ।
वृद्यधर्मोत्तरस्यैवं भावमत्र न्यरूपयत् ।।
(स्याद्वादरत्नाकर पृ. ११.)

(५) वृद्धसेवाप्रसिद्धोऽपि ध्रुवन्नेवं विशङ्कितः ।
बालवत्स्यादुपाल्लभ्यस्त्रैविद्यविदुषामयम् ।।

तथाहि—सोऽयं वृद्धधर्मोत्तरानुसार्यप्यलीकवाचालतया तुल्य-स्वरूपयोरपि व्युत्पत्तिव्यवहारकालयोरतुल्यतामुपकल्पयन् बाल इवै-कामप्यङ्गुलिं वेगवत्तया चचलयन् द्वयीकृत्य दर्शयतीत्येवमुपालभ्यते त्रैविद्य कोविदैः । (स्याद्वादरत्नाकर, पृ. १२.)

(६) यच्चावाचि 'अत एवस्यादि' तत्रायमाशयः, लक्ष्यं हि प्रसिद्ध-मनुवाद्यं भवतीत्यस्माद् भूतविभक्तयो द्वितीयाद्याः समुपादीयन्ते लक्षणं पुनरप्रसिद्धं विधेयमित्यतो भव्यविभक्तिः प्रथमैव प्रयुज्यत इति ।

सोऽयं साहित्यज्ञताभिमानात् तत्र वृद्धधर्मोत्तरमधरयति, स्वयं त्वेवं व्याचष्ट इति किमन्यदस्य देवानां प्रियस्य श्लाघनीयता प्रज्ञायाः।

(स्याद्वादरत्नाकर, पृ. १२)

इन अवतरणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि धर्मोत्तर नाम के दो आचार्य हो गये हैं। अतः हरिभद्र ने ऊपर जिस धर्मोत्तरीयसूत्र को उद्धृत किया है उसके कर्त्ता, न्यायविन्दु और धर्मकीर्ति कृत ग्रन्थों के टीकाकार धर्मोत्तर नहीं परन्तु उनके पूर्वज वृद्धधर्मोत्तर होने चाहिए। नहीं तो फिर इन अर्वाचीन धर्मोत्तर का समय कम से कम १०० वर्ष पीछे हटाना चाहिए।

परन्तु इन प्रसिद्ध धर्मोत्तर के, हरिभद्र के पूर्वग न होने में एक इतर प्रमाण भी प्राप्त होता है। धर्मोत्तर रचित न्यायविन्दु टीका पर मल्लवादी नाम के एक जैन विद्वान् की लिखी हुई टिप्पणी उपलब्ध है। इससे ज्ञात होता है कि धर्मोत्तर ने अपनी टीका में कई जगह न्यायबिन्दु के पूर्वटीकाकार विनीतदेव की (और साथ में शान्तिभद्र की भी) की हुई टीका को दूषित बतलाई है और उनका खण्डन किया है। टिप्पणी लेखक के इस बात के सूचक कुछ वाक्य ये हैं—[1]

१—सम्यग्ज्ञानेत्यादिना (१.५) विनीतदेव व्याख्यां दूषयति। (पृ० ३)

२—हेयोऽर्थ इत्यादिना विनीतदेवस्य व्याख्या दूषिता। (पृ. १३)

३—उत्तरेण ग्रन्थेन सर्वशब्द (५.२) इत्यादिना टीकाकृतां व्याख्यां दूषयति। विनीतदेवशान्तभद्राभ्यामेवमाशङ्क्य व्याख्यातम्। (पृ. १३)

४—यथार्थाविनाभावेत्यादिना (६. १३) अनेन विनीतदेवशान्तभद्रयोर्व्याख्या च दूषिता। (पृ. १६).

५ -अनेन लक्ष्यलक्षणभाव दर्शयता विनीतदेव व्याख्यानं संज्ञासंज्ञिसम्बन्धरूपं प्रत्युक्तम् (पृ. १७).

---

१ बिब्लिओथिका बुद्धिका [सेंट पिटर्सवर्ग, रूस] में प्रकाशित।

६—तेन यद्विनीतिदेवेन सामान्ययोर्वाच्यवाचकभावमङ्गीकृत्य निर्विकल्पकत्वमिन्द्रियविज्ञानस्य प्रतिपादितं तद्दूषितं भङ्ग्या। (पृ. २३-४).

ये विनीतदेव[1] राजा ललितचन्द्र के समकालीन थे। राजा ललितचन्द्र का समय अन्यान्य अनुमानों द्वारा ई. सन् ७०८ के लगभग माना जाता है, अतएव विनीतदेव का भी वही समय मानना चाहिए। इस गणना से मल्लवादी के लेखानुसार विनीतदेव की व्याख्या पर आक्षेप करने वाले धर्मोत्तर का अस्तित्व या तो हरिभद्र के समय में स्वीकारना चाहिए या उसके अनन्तर। ऐसी दशा में तिब्बतीय इतिहास लेखक तारानाथ का यह कथन कि आचार्य धर्मोत्तर, काश्मीर के राजा वनपाल के समकालीन थे, जो ई. स. ८४७ के आसपास राज्य करता था।

३

हरिभद्र और मल्लवादी

हरिभद्र और मल्लवादी आचार्य के सम्बन्ध में भी परस्पर इसी तरह की एक उलझन है। मल्लवादी नाम से प्रसिद्ध एक बहुत बड़े तार्किक विद्वान् जैनधर्म के श्वेताम्बर सम्प्रदाय में हुए हैं। उन्होंने जैनधर्म का सबसे गूढ़ और गम्भीर सिद्धान्त जो नयवाद कहलाता है, उस पर द्वादशारनयचक्र नामक एक विशाल और प्रौढ़ ग्रन्थ की रचना की है। हरिभद्रसूरि ने अपने अनेकान्तजयपताका नामक ग्रंथ में दो-तीन स्थानों पर उनका नामस्मरण किया है और उन्हें 'वादिमुख्य' बतलाकर सिद्धसेन दिवाकर प्रणीत 'सम्मतितर्क' का टीकाकार लिखा है। यथा—

---

१ द्रष्टव्य सतीशचन्द्र द्वारा लिखित 'मध्यकालीन भारतीय न्यायशास्त्र का इतिहास, पृ. ११९।

[१] उक्तं च वादिमुख्येन [टीका—मल्लवादिना सम्मतौ]—स्वपरसत्त्वव्युदासोपादानापाद्यं हि वस्तुनो वस्तुत्वम्, अतो यद्यपि सन्न भवतीत्यसत्, तथापि परद्रव्यादिरूपेण सतः प्रतिषेधात् तस्य च तत्रासत्त्वात् तत्स्वरूपसत्त्वानुबन्धात् न निरुपाख्यमेव तत् । इति प्रसज्यप्रतिषेधपक्षोदितदोषाभावः
[अनेकान्तजयपताका, काशी, पृ० ४७]

[२] उक्तं च वादिमुख्येन (श्रीमल्लवादिना सम्मतौ)—'न विषयग्रहणपरिणामादृतेऽपरः संवेदने विषयप्रतिभासो युज्यते युक्त्ययोगात् । (अनेकान्तजयपताका, पृ० ९८)

जैन दन्तकथा के अनुसार मल्लवादी का अस्तित्व ईस्वी की चौथी शताब्दी में माना जाता है, परन्तु इधर उपर्युक्त वर्णनानुसार धर्मोत्तर रचित न्यायबिन्दु टीका की टिप्पणी के कर्त्ता भी मल्लवादी नामक जैनाचार्य ही ज्ञात होते हैं। आज तक जैनसाहित्य में केवल एक ही मल्लवादी के होने का उल्लेख देखा गया है, इसलिये धर्मोत्तरीय टीका-टिप्पणी के कर्त्ता मल्लवादी और द्वादशारनयचक्र के कर्त्ता प्रसिद्ध मल्लवादी दोनों एक ही समझे जायें तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं है। और इसी कारण से डा० सतीशचन्द्र ने अपने निबन्ध में मल्लवादी का सत्ता समय समुचित रूप से वही लिखा है जो धर्मोत्तर के लिये स्थिर किया गया है।[1]

परन्तु हरिभद्र के ग्रन्थ में मल्लवादी का उक्त प्रकार स्पष्ट नामोल्लेख होने से 'वादीमुख्य' और सुप्रसिद्ध मल्लवादी तो निःसन्देह रीति से हरिभद्र के अस्तित्व-समय से-अर्थात् ईस्वी की ८ वीं शताब्दी से पूर्व में ही हो चुके हैं। इसलिये धर्मोत्तर टीका की टिप्पणी लिखने वाले मल्लवादी को द्वितीय मल्लवादी समझना चाहिए और वे धर्मोत्तर के बाद किसी समय में हुए ऐसा मानना चाहिए। इस प्रकार हरिभद्र के ग्रंथों से हमें एक नये धर्मोत्तर और नये मल्लवादी का पता लगता है।

———

१ द्रष्टव्य पूर्वोक्त, मध्यकालीन भारतीय न्यायशास्त्र का इतिहास, प. ३४-३५।

४

हरिभद्रसूरि और शंकराचार्य

वेदान्तमतप्रस्थापक आदि शंकराचार्य के सत्ता-समय के विषय में भी हरिभद्र के समयनिर्णय से कुछ प्रकाश डाला जा सकता है। शंकराचार्य के समय के बारे में अनेक विद्वानों के अनेक विचार हैं। कोई उन्हें ठेठ महात्मा गौतम बुद्ध के समकालीन, तो कोई महाकवि कालिदास और नृपति विक्रमादित्य के समकालीन बतलाते हैं। कोई ईसवी की पहली शताब्दी में, कोई चौथी में, कोई पांचवीं में, कोई छठीं में, कोई ७वीं में, कोई आठवीं में, कोई नवीं में और यहाँ तक कि कोई १४ वीं जैसे बिल्कुल अर्वाचीन काल तक में भी उनका होना मानते हैं। परंतु इन सब विचारों में से हमें, हरिभद्र के साहित्य का अवलोकन करने के बाद, प्रो. काशीनाथ बापू पाठक का विचार युक्तिसंगत मालूम देता है। उनके विचारानुसार शंकराचार्य ईसवी की ८ वीं शताब्दी के अंत में और नवीं के प्रारंभ में हुए होने चाहिए। उन्होंने एक पुरातन सांप्रदायिक श्लोक के आधार पर शक सं० ७१० (ई. स. ७८८) में शंकराचार्य का जन्म होना बतलाया है। इसी समय के सम्बन्ध में अन्यान्य विद्वानों के अनेक अनुकूल-प्रतिकूल अभिप्राय जो आज तक प्रकट हुए हैं उनमें सबसे पिछला अभिप्राय प्रसिद्ध देशभक्त श्रीयुत् बाल गंगाधर तिलक का, उनके गीतारहस्य में प्रकट हुआ है। श्रीयुत् तिलक महाशय के मत से "इस काल को सौ वर्ष और भी पीछे हटाना चाहिए। क्योंकि महानुभाव पन्थ के दर्शनप्रकाश नामक ग्रंथ में यह कहा है कि 'युग्मपयोधिरसान्वितशाके' अर्थात् शक संवत् ६४२ (विक्रमी संवत् ७७०) में श्रीशंकराचार्य ने गुहा में प्रवेश किया और उस समय उनकी आयु ३२ वर्ष की थी। अतएव यह सिद्ध होता है कि उनका जन्म शक ६१० (वि. सं. ७४५) में हुआ।" (गीतारहस्य, हिन्दी आवृत्ति, पृ. ५६४) हमारे विचार से तिलक महाशय का यह कथन विशेष प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता। क्योंकि शंकराचार्य यदि ७ वीं शताब्दी में, अर्थात् हरिभद्र के पहले हुए होते

तो उनका उल्लेख हरिभद्र के ग्रंथों में कहीं न कहीं अवश्य मिलता। हरिभद्र द्वारा उल्लिखित विद्वानों की दीर्घ नामावली, जो हमने इस लेख में ऊपर लिखी है उसके अवलोकन से ज्ञात होता है कि, उन्होंने अपने पूर्व में जितने प्रसिद्ध मत और संप्रदाय प्रचलित थे उनमें होने वाले सभी बड़े-बड़े तत्त्वज्ञों के विचारों पर कुछ न कुछ अपना अभिप्राय प्रदर्शित किया है। शंकराचार्य भी यदि उनके पूर्व में हो गये होते तो उनके विचारों की आलोचना किये बिना हरिभद्र कभी नहीं चुप रह सकते। शंकराचार्य के विचारों की मीमांसा करने का तो हरिभद्र को खास असाधारण कारण भी हो सकता था। क्योंकि, शारीरिक भाष्य के दूसरे अध्याय के द्वितीय पाद में बादरायण के

'नैकस्मिन्नसम्भवात्।३३। एवं चात्माऽकात्स्न्र्यम्।३४।
न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः।३५।
अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः।३६।

इन ४ सूत्रों पर भाष्य लिखते हुए शंकराचार्य ने, जैनधर्म का मूल और मुख्य सिद्धान्त जो 'स्याद्वाद (अनेकान्तवाद) है उनके ऊपर अनेक असदाक्षेप किये हैं। हरिभद्र ने 'अनेकान्तजयपताका' में अनेकान्तवाद पर किये जाने वाले सभी आक्षेपों का विस्तृत रीति से निरसन किया है। इस ग्रंथ में तथा अन्य ग्रन्थों में भी उन्होंने ब्रह्माद्वैत मत की अनेक बार मीमांसा की है। ऐसी दशा में शंकराचार्य जैसे अद्वितीय अद्वैतवादी के विचारों का यदि हरिभद्र के समय में अस्तित्व होता (और तिलक महाशय के कथनानुसार होना ही चाहिए था) तो फिर उनमें सङ्कलित अनेकान्तवादपरक आक्षेपों का उत्तर दिये बिना हरिभद्र कभी नहीं मौन रहते। इसलिये हमारे विचार से शंकराचार्य का जन्म हरिभद्र के देहविलय के बाद, अर्थात् प्रो० पाठक के विचारानुसार शक ७१० में होना विशेष युक्तिसंगत मालूम देता है।

—०—

Library IIAS, Shimla
H 294.892 J 564 H
00094577